।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

वर्ष- २० जुलाई सन्- २००७	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अंक- ४ रामानुजाब्द- ९९१ त्रैमासिक प्रकाशन

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।

ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि जब तक शरीर स्वस्थ और निरोग है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियाँ सबल व सक्षम हैं और जीवन-शक्ति का क्षय नहीं हुआ है, तभी वह आत्म-कल्याण (मोक्षप्राप्ति) का यथासाध्य प्रयास कर ले; क्योंकि मकान में आग लग जाने पर कुँआ खोदने का कार्य प्रारम्भ करने से क्या लाभ? —वै०श०-७५

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ० सं०
१.	वैदिक-वाणी	१
२.	वैकुण्ठ के योग्य बनें	४
३.	नित्यजीव स्वरूपा श्रीदेवी	५
४.	गुरु पूर्णिमा	७
५.	वरदवल्लभा स्तोत्र का अनुशीलन-(२)	९
६.	भारत और भारतीय	१३
७.	व्यास-पूर्णिमा	१५
८.	ह्रास को विकास समझना भारी भूल	१६
९.	वेदान्त का सिद्धान्त	१९
१०.	प्राकृत भोजन तथा परमभोजन का रहस्य	२१
११.	भारतीय मनीषा और राष्ट्र की सङ्कल्पना	२२
१२.	नरक-स्वर्ग का रहस्य	२५
१३.	वर्ण और आश्रम	२६

****

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।

२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) २५ रुपये तथा आजीवन सदस्यता ४०१ रुपये मात्र हैं।

३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।

४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।

५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

— **सम्पादक**

हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)

दूरभाष : ०६११४-२७१३०९

वैदिक-वाणी

समस्त प्राणी अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में घूमते रहते हैं। शास्त्रानुसार चौरासी लाख प्रकार के शरीरधारी जीव हैं। मानव-शरीर से जो कर्म (शुभ या अशुभ) किये जाते हैं उन्हीं का फल प्राणियों को भोगने के लिए मिलता है। मानवेतर कोई ऐसा शरीर नहीं है, जिस शरीर से किसी प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म होता हो और उसके अनुसार फल मिलता हो। पशु-पक्षी आदि के शरीरों द्वारा भगवत् निमित्त कर्म करने वाले प्राणियों के उद्धार में भी मानव शरीर का संस्कार ही काम करता है, जैसे–गजेन्द्र, जटायु आदि। मानव शरीर से पुण्य और पाप ये दो प्रकार के कर्म होते हैं। पाप कर्म लोहे की बेड़ी माना गया है और पुण्य कर्म सोने की बेड़ी। मानव पुण्यकर्त्ता हो या पापकर्त्ता, सांसारिक बन्धन दोनों को लगता ही है। पाप करने वाले सूअर, कुत्ता, गदहा आदि योनियों एवं नरकादि में रहकर कष्ट भोगते हैं। पुण्य करने वाले मानव सांसारिक एवं स्वर्गीय सुखरूप बन्धन में बन्ध जाते हैं। सांसारिक एवं स्वर्गीय सुख भी क्षणिक होने से दुःख से सम्बन्ध रखता है। सांसारिक सुख भोगने वाले राजाओं एवं स्वर्गीय सुख भोगने वाले देवताओं में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर आदि दोष तो रहते ही हैं। इनसे छुटकारा उन सभी में किसी को नहीं है। अतएव विद्वान् पुरुष भगवान का भजनरूप विशेष धर्म का पालन करत है। उपनिषद् में लिखा है कि सांसारिक सुखों की परीक्षा करने के बाद उन्हें बन्धन कारक समझकर विद्वान् व्यक्ति गुरु की शरण मे जाता है और ईश्वर की उपासना रूप विशेष धर्म की शिक्षा लेकर उनका आचरण करता है। सतत् ईश्वर की उपासना करने से प्राचीन-लौकिक भोग की वासनायें नष्ट हो जाती हैं। भगवद्-दर्शन का मनोरथ उस भक्त में इस प्रकार प्रबल हो जाता है, जिस प्रकार से परदेश में रहने वाले पति को देखने के लिए घर में रहने वाली पत्नी बेचैन रहती है या अजात-पक्षी (जिन्हें पंख नहीं जन्मा हो ऐसे पक्षी) अपने माता-पिता से मिलने के लिए व्यग्र रहता है। इसी प्रकार से सांसारिक भोग-वासनायें जिनकी नष्ट हो गई हैं, वैसे भक्त भगवान के दर्शन का मनोरथ करते रहते हैं। श्रीस्वामी यामुनाचार्य जी ने आलवन्दार स्तोत्र में वैसा ही अपना भाव प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं कि हे भगवान्! कब वह समय आयेगा जब वज्र, अङ्कुश, ध्वज आदि चिह्नों से चिह्नित आपके चरणों के दर्शन होंगे। कब वे दोनों चरण वैकुण्ठधाम में मेरे सिर को अलङ्कृत करेंगे। कब नित्यधाम वैकुण्ठ में पहुँचकर नित्य आपकी सेवा कर सकूँगा अर्थात् शीघ्र आप अपने चरणों के दर्शन करायें। ऐसे आध्यात्मिक जगत् में सभी उच्चकोटि के भक्तों ने चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय या धर्मानुयायी क्यों न हो, अपने आराध्यदेव के प्रति प्रार्थी रहे हैं। एक मात्र भगवद् चरणारविन्द के मनोरथ रखने वाले विद्वानों के पुण्य और पाप दोनों कर्म नष्ट हो जाते हैं। इसलिए श्रुति भी कहती है—

तदा विद्वान पुण्यपापे विधूय, निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।

****

वैकुण्ठ के योग्य बनें

सभी जन अर्थ और काम के चिन्तन में अहर्निश लगे हुए हैं। जो चिन्तन त्रिविध ताप को मिटाने वाला नहीं है, प्रत्युत त्रिविध ताप को बढ़ाने वाला है। मोक्ष का चिन्तन ही संसार के कष्टों से बचाता है। संसार के कष्टों से सदा के लिए छूट जाना ही मोक्ष है। वह प्राप्त होता है—सदाचारपूर्वक भगवद् भजन से। संसार के अन्य असम्भव कार्य सम्भव हो जाये; परन्तु संसार के कष्टों से मुक्ति हरिभजन के बिना नहीं मिल सकती है।

वारिमथे घृत होइ वरु सिकता से वरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिउन यह सिद्धान्त अपेल।।

जैसे प्यास को मिटाने के लिए एक मात्र साधन जल है। उसी प्रकार संसार के कष्टों से मुक्ति के लिए एकमात्र मार्ग भगवद्भजन ही है।

भगवान की दो विभूतियाँ हैं–लीलाविभूति और त्रिपाद्विभूति। लीलाविभूति संसार है और त्रिपादविभूति वैकुण्ठ है। लीलाविभूति से छूटकर त्रिपाद्विभूति में पहुँचकर वैकुण्ठनाथ की नित्य सेवा में संलग्न हो जाना ही मोक्ष है।

मुक्ति का क्रम इस प्रकार का है—प्रथम–मनुष्य किसी सुयोग्य आचार्य के द्वारा सदुपदेश सुनता है। आचार्य अपने उपदेश में बताते हैं कि आत्मा, नित्य, अजर, अमर एवं अविनाशी है। शरीर नश्वर है। आत्मा के सच्चे सुख के लिए भगवान् की शरणागति आवश्यक है।

बिन गुरु भवनिधि तरइ न कोई।
जो विरञ्चि सङ्कर सम होई।।

ब्रह्मा और शङ्कर के समान शक्तिशाली वन जाने पर भी गुरु के विना कोई भी व्यक्ति संसार के कष्टों से सदा के लिए मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। आचार्य के मुख से सारगर्भित वचन सुनकर मानव सुयोग्य गुरु से दीक्षाग्रहण करता है। दीक्षित होने पर सञ्चित कर्म का नाश हो जाता है और क्रियमाण कर्म का फल नहीं मिलता है। प्रारब्ध कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। प्रारब्ध कर्म का फल भोग लेने पर हृदय में रहने वाले अन्तर्यामी भगवान कृपाकर सुषुम्णा नाड़ी द्वारा जीवात्मा को स्थूल शरीर से निकालते हैं। शरीर तीन प्रकार के होते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। कारण शरीर अपना वह कर्म है जिससे बार-बार जीवात्मा विभिन्न शरीरों में भ्रमण करता है। स्थूल सबों के दृष्टि पथ पर है और सूक्ष्म शरीर जो बाह्य दृष्टि का विषय नहीं है, उसे ज्ञानदृष्टि से ज्ञानी देखते हैं। उसी सूक्ष्म शरीर के साथ जीवात्मा स्थूल शरीर से निकलता है।

अन्तर्यामी भगवान मुक्तियोग्य जीवात्मा को सुषुम्णा नाड़ी से निकालते हैं। वैकुण्ठ में जाने वाले मार्ग को अर्चिरादि मार्ग कहते हैं। स्थूल शरीर से निकलकर जीवात्मा अर्चिरादि मार्ग द्वारा वैकुण्ठ जाता है। इस प्राकृत ब्रह्माड में मुक्तात्मा बारह जगह विश्राम करता है। अग्नि, दिन, पूर्वपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वरुण, इन्द्र और ब्रह्मा का लोक। सबलोकों के अभिमानी देवता

शेष पृ० ६ पर

नित्यजीव स्वरूपा श्रीदेवी

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृत्वमेति । (श्वेताश्वर)

इस उपनिषद् मन्त्र के अनुसार सम्पूर्ण जगत् में तीन तत्त्व हैं। भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता। इन तीन तत्त्वों के अतिरिक्त जगत् में चौथा तत्त्व है ही नहीं। भोक्ता जीवात्मा है, जो नित्य, मुक्त और बद्ध भेद से तीन प्रकार का है। प्रकृति भोग्य है। ये तीन रूप में जीवात्मा के भोग में आती है। भोग्य, भोगसाधन और भोगस्थान।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये भोग्य हैं, आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा ये पाँचों भोग के साधन इन्द्रिय भी प्राकृत हैं; जिस स्थान पर जीवात्मा भोग करता है वह स्थान भी प्रकृति है। अत: तीन रूप में प्रकृति जीवात्मा के भोग में आती है। प्रकृति और जीवात्मा इन दोनों का प्रेरक परमात्मा हैं। जो विष्णु शब्द से कहे जाते हैं, वे ही सर्वेश्वर हैं। चित्, अचित् अर्थात् जड़-चेतन इन दोनों के नियन्ता परमेश्वर एक ही हैं। श्रीविष्णु जड़-चेतन समुदाय में व्याप्त होकर रहते हैं। जड़-चेतन का नियन्ता विष्णु ही हैं।

अन्त:प्रविष्ट: शास्त्राजनानाम् ।

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण स्थित: ।

इन उपनिषद् मन्त्रों से श्रीविष्णु की व्यापकता स्वत: सिद्ध हो जाती है। जगत् में दो तरह की व्यापकता होती है–स्वरूप से और गुण से। भगवान् विष्णु स्वरूप से समस्त जगत् में व्याप्त हैं। मुक्त और नित्य जीवों की व्याप्तता गुण से हीती है। चूँकि जीवात्मा अणुरूप है। वह शरीर के हृदय प्रदेश में रहता है। वह ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। जैसे सूर्य एक स्थान पर रहते हैं और उनकी प्रभा सर्वत्र फैली हुई रहती है, उस प्रभा द्वारा सूर्य की व्यापकता है। वैसे ही जीव का ज्ञान द्वारा शरीर में व्यापकता है।

प्रश्न—वेदान्त दर्शन तीन तत्त्वों का ही प्रतिपादन करता है–जड़, चेतन और ब्रह्म। वह ब्रह्म नित्यधाम वैकुण्ठ में श्रीदेवी के साथ रहता है। अतएव श्रीलक्ष्मीनारायण के रूप में उनकी उपासना होती है। विभवावतार में श्रीराम के साथ सीताजी, श्रीकृष्ण के साथ राधा एवं रुक्मिणी रहती हैं। इस तरह लक्ष्मी के साथ ही नारायण की उपासना सर्वत्र देखी जा रही है।

जब नारायण एक हैं तो उनके साथ रहने वाली लक्ष्मी, सीता एवं रूक्मिणी आदि को हम किस तत्त्व के रूप में स्वीकार करें? अगर लक्ष्मी आदि को ब्रह्मतत्त्व स्वीकार करते हैं, तब फिर ब्रह्म में द्वैत आ जायेगा। तो ब्रह्म एक ही है यह कैसे कहा जा सकता है? लक्ष्मी देवी को जड़ पदार्थ मान ही नहीं सकते; क्योंकि प्रकृति में ज्ञान का अभाव है और श्रीदेवी ज्ञान से पूर्ण हैं। ईश्वर कोटि में मानने पर दो ईश्वर को मानना पड़ेगा। ***'ईशते देव एक'*** इस उपनिषद् वचन से विरोध होता है; क्योंकि सर्वेश्वर एक है। फिर श्रीदेवी को किस तत्त्व में मानेगें।

उत्तर—श्रीदेवी जिसे सीता, रुक्मिणी आदि नामों से हम जानते हैं, वे नित्य जीव स्वरूप हैं, ऐसा पूर्वाचार्यों ने स्वीकार किया है। अतएव न्याय सिद्धाञ्जन में ***'अल्पपरिमाणत्वेसति ज्ञातृत्वम्' 'शेषत्वेसति ज्ञातृत्वम्'*** आदि जीवात्मा के लक्षण कहे गये हैं, जो श्रीदेवी में भी समन्वित होता है। श्रीरङ्गरामानुजयतीन्द्रपाद

ने जीव का लक्षण बताते हुए कहा है—***लक्ष्म्याजीवान्तर्भावपक्षे तु न दोषः***।

प्रश्न—यदि लक्ष्मी देवी को नित्य जीवकोटि में मानते हैं तब विष्णुपुराण में कहा है—***'यथा सर्वगतोविष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम'***। अर्थात् जैसे भगवान् विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं वैसे ही लक्ष्मी जी भी सर्वत्र व्याप्त हैं। इससे भगवान् विष्णु की तरह लक्ष्मी देवी की भी स्वरूपतः व्यापकता सिद्ध हो जाती है?

उत्तर—विष्णुपुराण के प्रथम अंश के अष्टम अध्याय का यह श्लोक है—

नित्यैवेषाजगन्मातविष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथासर्वगतोविष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम।।

वहाँ भृगु के द्वारा ख्याति से लक्ष्मी की उत्पत्ति बतलायी गयी है। मैत्रेय ने पराशर से पूछा कि जब ख्याति से लक्ष्मी की उत्पत्ति कही गयी है तब समुद्रमन्थन के समय लक्ष्मी की उत्पत्ति कैसे कही गयी? इसका समाधान करते हुए मैत्रेय से पराशर जी ने कहा है—***'यथा सर्वगतोविष्णुस्तथैवेयंद्विजोतम'*** जैसे सर्व व्यापक विष्णु नित्य हैं वैसे ही लक्ष्मी भी नित्य हैं। श्रीविष्णु के अवतार के समान लक्ष्मी जी का भी अवतार होता है। अतः किसी प्रकार का दोष नहीं है। श्रीदेवी स्वरूपतः व्यापक नहीं है; किन्तु गुण द्वारा उनकी व्यापकता है। नित्यजीव गुण द्वारा व्यापक होते हैं। इस रूप में श्रीदेवी को मानने पर ब्रह्म में द्वैतभाव नहीं आता है। ***'ईशते देवएक'*** इस ब्रह्म का एकत्व प्रतिपादन करने वाले श्रुतिमन्त्र से विरोध नहीं होता है।

*****

पृ० ४ का शेष

मुक्तात्मा को अपने-अपने लोक में सम्मानित करते हैं। ब्रह्मा के लोक के बाद प्रकृति का सात आवरण है जो एक से दूसरा दस-दस गुणा अधिक है। सातों आवरण के बाद विरजा नदी है। जिसमें दिव्य ज्ञान की धारा प्रवाहित होती है। उस नदी में स्नान कर लेने पर जीवात्मा का पञ्चभौतिक सूक्ष्म शरीर छूट जाता है और उसे दिव्य चतुर्भुज शरीर की प्राप्ति होती है। उसी दिव्य शरीर से जीवात्मा वैकुण्ठ में भगवान से समीप पहुँचता है।

हम कहाँ से आये कहाँ जायेंगे यह विचार कर लेना है।
भगवान ने भेजा नर तन में उनके पास ही जाना है॥

भगवद्धाम हमारा है यह मन में भाव बनाना है।
सन्तों के वचनामृत से ही भगवत प्रेम बढ़ाना है॥

वैकुण्ठनाथ के दर्शन के लिए प्रतिदिन उनसे प्रार्थना करें— हे हरे! कब वह समय आवेगा जब मैं लीलाविभूति से छूटकर विरजा नदी के जल स्पर्श से सूक्ष्म प्रकृति एवं सूक्ष्म वासना रहित दिव्य गुण युक्त होकर आपके द्वितीय दिव्य मङ्गल विग्रह अमानव भगवान के सन्निधि में दिव्य वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत होकर नित्य मुक्तों से सम्मानित एवं प्रशंसायुक्त होते हुए गरुड़यान से आपके चरणसन्निधि में पहुँचूँगा।

महासिन्धोः नीरे विगतकलुषो दिव्यगुणको,
हरे सद्गात्रोऽमानव परिसरेऽलङ्कृत तनुः।
भवेयं संश्लाध्योऽमरनिकरः सम्मानित भवन्,
कदाहं संरुढो वरगरुडयाने समचरम्।। (श्रीवैकुण्ठस्तवः)

*****

गुरु-पूर्णिमा

आध्यात्मिक ज्ञान ही मनुष्य को महान् बनाता है। ज्ञान के विना मानव पशु या दानव बन जाता है। तत्त्व का यथार्थ ज्ञान वेदान्त दर्शन से प्राप्त होता है। ब्रह्मा को नारायण से वैदिक-ज्ञान प्राप्त हुआ था। ह्यग्रीव नामक दानव ने वेदों को चुरा लिया था। भगवान् ने मत्स्यरूप धारणकर उनका उद्धार किया। उसी के आधार पर ब्रह्मा ने सृष्टि का विस्तार किया है। काल के प्रभाव से ज्ञान का अभाव होने लगा। उसके निवारण के लिए भगवान् विष्णु ने व्यासरूप में अवतार लिया है। द्वापर में आषाढ़ पूर्णिमा को श्रीपराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से श्रीव्यास जी का प्रादुर्भाव हुआ था। उन्होंने वेद का विस्तार किया। एक वेद को ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद के रूप में विभाजित किया। तदनन्तर उन्होंने एक लक्ष श्लोक से परिपूर्ण महाभारत की रचना की और चार लाख श्लोकों से पूर्ण अठारह पुराणों का निर्माण किया। प्रस्थानत्रयी के अन्दर प्राप्त ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन भी उन्होंने ही किया है। ***'इतिहासपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते'*** के अनुसार वेद व्यास निर्मित महाभारत और पुराण को पञ्चम वेद के रूप में स्वीकार किया जाता है। व्यास जी ने इन शास्त्रों के द्वारा विश्व में ज्ञान ज्योति को जलाकर अज्ञानान्धकार को दूर हटाया। जगत् में किसी को कुछ भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुआ है या हो रहा है वह वेदव्यास जी की ही देन है। जगत् में यथार्थ ज्ञान देने वाले गुरु श्रीव्यास जी ही हैं। अतएव उनकी जन्मतिथि को गुरुपूर्णिमा कहते हैं। आषाढ़ शुक्लपूर्णिमा को वेदव्यास जी की विशेष पूजा होती है। आज विश्व में आध्यात्मिक ज्ञान के सदुपदेश देने वाले समस्त सन्तों की भी गुरुपूर्णिमा को शिष्यगण पूजा करते हैं। आध्यात्मिक सदुपदेश के द्वारा शिष्यों को भगवान के चरणों में प्रीति उत्पन्न कराने वाले गुरु होते हैं। वे गुरुजन आचार्य कहे जाते हैं। आचार्यों द्वारा भगवान के दिव्यगुणों एवम् उनकी विभूतियों को सुनने एवं समझने पर भगवान के चरणों में प्रेम होता है।

भगवान् और आचार्य में आठ प्रकार की समानता होती है—

(१) अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले भगवान् हैं, वे भक्तों के ऊपर कृपाकर उनके चित्तवृत्ति में स्थित होकर ज्ञानरूपी दीप के द्वारा विषयाशक्तिरूपी तम को दूर करते हैं। वैसे ही सद्गुरु अपने सदुपदेश द्वारा शिष्यों के अज्ञान को नष्ट करता है। अत: श्रीभगवान् और सद्गुरु ये दोनों अज्ञानान्धकार के नाशक हैं। इसलिये दोनों में समता है।

(२) भगवान् पापों को नष्ट करने वाले हैं। दुष्टचित्त वाले दुर्जनों के द्वारा भी स्मरण किये जाने पर भगवान् उनके पापों को हर लेते हैं। वैसे ही आचार्य भी शिष्यों के पाप को नष्टकर देते हैं। वे अपने सदुपदेश द्वारा शिष्यों को आगे होने वाले पापाचरण से विरक्त कर देते हैं। अत: पापनाशकत्व भगवान् और आचार्य में समान है।

(३) भगवान् अपने आश्रित जीवों के ऊपर कृपा करके उनको अपने समान पद देते हैं। मोक्ष की स्थिति में पहुँचने पर जीवात्मा और भगवान् में समानता हो जाती है। ***निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति*** भगवान् जितना आनन्दानुभव करते हैं, मुक्त जीव भी उतना ही आनन्दानुभव करता है। उसी प्रकार आचार्य भी अपने शिष्यों को ज्ञान, वैराग्य, भगवद्भक्ति और भगवद्कृपा की प्राप्ति में अपने समान बना देता है।

(४) जीवों को जो मोक्ष मिलता है वह भी जीवों का एक प्रकार से जन्म ही है। उससे जीव के स्वरूप का पूर्ण विकास होता है। सांसारिक जन्म और मोक्षरूप जन्म में यह अन्तर है कि मोक्षरूपी जन्म सांसारिक जन्मों को नष्टकर देता है। मोक्षरूपी जन्म प्रदान करने वाले श्रीभगवान् हैं, वैसे ही आचार्य भी सांसारिक जन्मों को नष्ट करने वाले विद्याजन्म को प्रदान करते हैं। इससे भी भगवान् और आचार्य में समानता सिद्ध होती है।

(५) भगवान् की दिव्यदृष्टि का ही प्रभाव है जिससे मनुष्य सात्त्विक मोक्ष का अधिकारी होता है, उसी प्रकार आचार्य की दिव्यदृष्टि का प्रभाव है। आचार्य की कृपा दृष्टि होने पर मानव मोक्ष प्राप्त करता है। अत: भगवान् और आचार्य वे दोनों अपने दिव्यदृष्टि के प्रभाव से जीव को कल्याण प्रदान करने के कारण समान हैं। श्रीभगवान् ने अर्जुन को दिव्यदृष्टि दी है और आचार्य श्रीवेदव्यास जी ने सञ्जय को दिव्यदृष्टि एवं दिव्यश्रोत प्रदान किया है।

(६) भगवान् की कृपा किसी भी विघ्न से बाधित नहीं होती है। उनकी कृपा जीवों पर सदा प्रवाहित होती रहती है। वैसे ही आचार्य कृपा भी किसी विघ्न से बाधित न होकर सदा शिष्यों पर प्रवाहित होती रहती है। कृपा करने के विषय में आचार्य और भगवान् दोनों समान हैं।

(७) भगवान् आनन्दमय होने से सर्वदेश, सर्वकाल एवं सभी अवस्थाओं में रस रूप में रहते हैं। अतएव भगवान् भक्तों को अत्यन्त भोग प्रतीत होते हैं। वैसे ही आचार्य भी अपने शिष्यों की सेवा से अपार आनन्द का अनुभव करता है। इसलिए भोक्ता के विषय में भगवान और आचार्य दोनों समान हैं।

(८) जीवों के प्रति भगवान् शेषी (स्वामी) हैं। भगवान् का स्वामीत्व सदा बना रहता है। वह कभी हटने वाला नहीं है। वैसे ही आचार्य भी शिष्यों के प्रति शेषी (स्वामी) हैं। उनका स्वामीत्व कभी भी नहीं मिटता। वैकुण्ठ में पहुँचने पर भी आचार्य, आचार्यरूप में ही रहते हैं और शिष्य, शिष्यरूप में रहते हैं। अत: स्वामीत्व की दृष्टि से भगवान् और आचार्य दोनों समान हैं।

****

वरदवल्लभा-स्तोत्र का अनुशीलन-(२)

(गताङ्क से आगे)

-**डॉ० राजदेव शर्मा,** लक्ष्मीनारायणमन्दिर,
लखीबाग, गया (बिहार)

कान्तस्ते पुरुषोत्तमः फणिपतिश्शय्याऽऽसनं वाहनं
वेदात्मा विहगेश्वरो यवनिका मायाजगन्मोहिनी ।
ब्रह्मेशादि सुरव्रजस्सदयितस्त्वद्दासदासीगणः
श्रीरित्येव च नामते भगवति ब्रूमः कथं त्वां वयम् ।।

पूर्व अङ्क में अमित महिमाशालिनी विष्णुपत्नी का उत्कर्ष (श्रेष्ठता) सिद्ध करने के क्रम में यह बतलाया गया कि आदिशेष, गरुड़ आदि नित्य विभूतियाँ भी श्रीजी की सेवा में सतत निरत रहती हैं। गरुड़ और शेषनाग दोनों परस्पर विरुद्ध जाति के जीव हैं। इन दोनों के द्वारा सेवित होने से लक्ष्मी में विरुद्ध धर्माश्रयता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस अङ्क में यह निर्देश किया जा रहा है कि मायाग्रस्त बद्ध जीवों के लिए लक्ष्मी का स्वरूप तिरोधान (ओझल) हो जाता है। भगवान की माया दम्पत्ति युगल के स्वरूप पर यवनिका (परदा) डाल देती है। इन तथ्यों का निदर्शन आचार्यपाद ने निम्नलिखित शब्दों के माध्यम से किया है—

(१) यवनिकामायाजगन्मोहिनी—

अर्थात् जगत् को मुग्ध-मोहित करने वाली माया दिव्य दम्पति के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर देती है। 'यवनिका' शब्द का अर्थ है भगवत्स्वरूप को छिपाने वाली—**भगवत्स्वरूप तिरोधानकरीम्**। 'माया' शब्द के कोशगत अनेक अर्थ हैं। यथा—(क) भगवान की अव्यक्त बीजरूप शक्ति, जो प्रपञ्च की कारणभूता हैं। (ख) प्रकृति, (ग) अविद्या, (घ) जीव को बाँधने वाली मोहकारिणी शक्ति, (ङ) लक्ष्मी, दुर्गा, सीता, राधा आदि, (च) इन्द्रजाल, (छ) कृपा, प्रज्ञा आदि। माया के रूप-स्वरूप तथा स्वभाव-प्रभावादि का निर्वचन श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराणादि प्रायः सभी सत्शास्त्रों में किया गया है।

भगवद्गीता में भगवान कृष्ण का वचन है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्ययया अर्थात् लीला में, प्रवृत्त मुझ परमेश्वर के द्वारा सत्त्व, रज और तम–इन तीन गुणों के आधार पर रची गई मेरी माया निश्चित रूपेण दुस्तर है। यहाँ भगवान कृष्ण ने मुख्यतः तीन विन्दुओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। पहला, ममामाया अर्थात् यह माया किसी अन्य के द्वारा नहीं वरन् मेरे द्वारा बनाई गई है। भगवान सत्यस्वरूप हैं। इसलिए उनकी माया भी सत्य है, झूठी नहीं है। हाँ, यह विकारी और परिणामी है। दूसरा–माया त्रिगुणात्मिका है। अर्थात् यह सत्त्व, रज और तमोमयी है। तीसरा–इसको पार करना अत्यन्त कठिन है। इस पर विजय प्राप्त करना जीव की सामर्थ्य से परे है। इसीलिए इसे दुरत्यया कहा गया है। यह विकार उत्पन्न करती है। इसलिए इसे 'प्रकृति'

शब्द से भी जाना जाता है। श्वेताश्वरोपनिषद् में कहा गया है—**मायां तु प्रकृतिं विद्धि माथिनं तु महेश्वरम्**। अर्थात् प्रकृति को माया जानो और महेश्वर भगवान को मायावी या मायाधीश समझो। माया भगवान तक पहुँचने में व्यवधान उत्पन्न करती है। यह ज्ञान क विरोधि स्थित है। इसलिए इसे अविद्या कहा जाता है। यह सृष्टि के विचित्र कार्यों का सम्पादन करती है, इसलिये इसे 'माया' शब्द से अभिहित किया जाता है। इसके मुख्यत: दो कार्य हैं—भगवान के स्वरूप को छिपाना और संसार एवं सांसारिक पदार्थों में भोग्य-बुद्धि उत्पन्न कर फँसाना।

'माया' शब्द 'मा' धातु से बनता है जिसका अर्थ है—बनाना, रचना करना या गढ़ना। अत: माया परमात्मा की सृजनात्मक शक्ति, ऊर्जा या आत्मविभूति है। परमात्मा इसी शक्ति से विश्व को गढ़ता है या फिर संसार में स्वयं को प्रकट करता है। इसे ही योगमाया कहते हैं। भगवान का कथन है—'यद्यपि मैं अजन्मा हूँ और मेरी आत्मा अनश्वर है, यद्यपि मैं सब प्राणियों का स्वामी हूँ, फिर भी मैं अपनी प्रकृति में स्थिर होकर अपनी माया द्वारा (अनुभवगम्य) अस्तित्व धारण करता हूँ'।

भागवत महापुराण के एकादश स्कन्ध में विदेहराज निमि नौ योगीश्वरों के समक्ष माया-विषयक जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं। इस पर नौ योगीश्वरों में अन्तरिक्ष नामक महात्मा चौदह श्लोकों में उसका उत्तर देते हुए कहते हैं—अशेष कारण परमात्मा जिस शक्ति से पञ्चमहाभूतों की रचना करते हैं तथा फिर उन पञ्चमहाभूतों से देव, मनुष्यादि शरीरों की सृष्टि करते हैं, उसे 'माया' कहते हैं। देहाभिमानी जीव पञ्चभूतों के द्वारा निर्मित शरीर को आत्मा मानकर उसमें आसक्त हो जाता है। यह भगवान की माया है। जीवों का कर्म-फल का भोग, जन्म-मरण का चक्र तथा प्रलयकाल में उनका अव्यक्त में लीन हो जाना—ये सब माया है। विराट् ब्रह्माण्ड का प्रलयकालीन जल में डूब जाना माया है। पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश तामस अहङ्कार में, अहङ्कार महत्तत्व में, महत्तत्व प्रकृति में और प्रकृति ब्रह्म में लीन हो जाती है। फिर इसी के उलटे क्रम से सृष्टि होती है। यह सब भगवान की माया है।

पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास ने माया की व्याख्या विलक्षण रीति से की है। उनका कथन है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।।

जो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।

मैं और मोर एवं तू और तोर—यह भेद-बुद्धि का परिचायक है। अहन्ता और ममता के आगमन पर अज्ञान या अविद्या का जन्म हो जाता है। अहं भाव और ममत्व से भेद-भाव की उत्पत्ति होती है। इस भेद-भाव से जीव संसार में बँधता है। अत: माया का कार्य जीव को संसार और सांसारिक पदार्थों में आसक्त करना है। संसार में आसक्ति भक्ति भगवान् से विमुख कर देती है। यही माया है। ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त सभी माया के वशवर्ती हैं। इस माया से त्राण एक मात्र भगवत्कृपा से ही सम्भव है। इसलिए ब्रह्मा, शिव एवं अन्य देव-देवियाँ भगवती की शरणागति ग्रहण करते हैं। इस तथ्य का प्रकाशन आचार्य पाद के अगले श्लोकार्ध से होता है—

(२) ब्रह्मेशादिसुरव्रजस्सदयितः त्वद्दासदासीगणः—

अर्थात् ब्रह्मा, शिव एवं अन्य देवी-देवतागण भी श्रीजी की अधीनता स्वीकार करते हैं। ब्रह्म और शिव दोनों देवों में श्रेष्ठ माने जाते हैं। जब ये दोनों भी विष्णु पत्नी के अधीन हों तो अन्य देवताओं का क्या कहना है। इस कैमुत्यन्याय से यह सिद्ध होता है कि सभी देवता लक्ष्मी के दास हैं और देव-पत्नियाँ उनकी दासी हैं। इससे लक्ष्मी का उत्कर्ष सिद्ध होता है। वस्तुतः 'श्री' शब्द ही उत्कर्ष का बोधक है, यह आगे कहा जा रहा है—

(३) श्रीरित्येव च नाम ते भगवति—

श्री के सम्बन्ध में ऊपर जो श्रुति-स्मृत्यादि प्रमाणों के उद्धरण दिए गए हैं, उसे यदि छोड़ भी दिए जायँ तो उनका असाधारण-अलौकिक नाम ही उनके उत्कर्ष को अभिप्रकट करता है। शास्त्रों में 'श्री' शब्द का निर्वचन निम्न रूप से किया गया है—

(क) श्रयन्ती—पुरुषोत्तम का आश्रय करने वाली।

(ख) श्रीयमाणा—जीवों को आश्रय देने वाली।

(ग) शृण्वती—आश्रितों का वचन सुनने वाली।

(घ) शृणतीमपि—उस वचन को भगवान् को सुनाने वाली।

(च) शृणाति निखिलं दोषं—वह सभी दोषों को दूर करती है।

(छ) शृणाति च गुणैर्जगत्—अपने गुणों से समस्त लोकों में व्याप्त हैं।

(ज) श्रीयते चाखिलैनित्यम्—सभी लोग सदा उनके आश्रित रहते हैं।

(झ) श्रयते च परं पदम्—परमपदरूप भगवान् के वे आश्रित रहती हैं।

उपर्युक्त निर्वचन से यह प्रमाणित होता है कि श्री का नाम ही उत्कृष्टता का व्यञ्जक है। 'एव' शब्द जोड़कर आचार्यचरण कहना चाहते हैं कि जिस 'श्री' शब्द को जोड़ने से सर्वत्र श्रेष्ठता का बोध होता है, वही तो आपका नाम है। आप भगवती हैं। 'भगवती' शब्द भग + वती से बनता है। भग का अर्थ है एश्वर्य। ऋग्वेद में कहा गया भग एव भगवाँ अस्तु। जो समस्त ऐश्वर्य, समस्त धर्म, समस्त श्री, समस्त यश, समस्त ज्ञान, समस्त वैराग्य से नित्य युक्त हैं, उसे भगवान् कहते हैं। भग + वान् = भगवान्। 'भगवान्' या 'भगवती' शब्द तीन अक्षरों से बना है। ये हैं—

भ—'भृ' धातु से सम्बद्ध होने से इसका अर्थ है धारण करना या पोषण करना।

ग—'गम्' धातु से सम्बद्ध होने से इसके तीन अर्थ हैं—

(क) नेता—कर्मफल प्राप्ति कराने वाली।

(ख) गमयिता—लय करने वाली।

(ग) स्रष्टा—उत्पन्न करने वाली।

व—'वस्' धातु से सम्बद्ध होने के कारण इसका अर्थ है—जिसमें समस्त भूतगण निवास करते हैं तथा जो समस्त भूतों में बसती है।

उपर्युक्त निर्वचन से यह सिद्ध होता है कि भगवती धारण-पोषण करती हैं, जीवों को कर्मानुसार फल प्राप्त कराती हैं, महाप्रलय-काल में ब्रह्माण्डों को लय करती हैं, संसार की रचना करती हैं तथा समस्त भूतों के हृदय में निवास करती हैं।

विष्णु पुराण में भगवत् शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज–ये छः गुण जिसमें नित्य निवास करते हैं तथा जो समस्त हेय गुणों से रहित हैं, उसे भगवान् कहते हैं। विष्णुपुराण में वर्णित इन छः गुणों को समझना आवश्यक है। यथा—

१. ज्ञान—ज्ञान ही भगवान् या भगवती का स्वरूप और गुण है। स्वात्म का पूर्ण बोध और सबका व्यापक परिज्ञान 'ज्ञान' कहलाता है। ज्ञान ही परमात्मा का परम रूप है।

२. शक्ति—जगत् की रचना करने को शक्ति कहते हैं। यह परमात्मा का जगत्प्रकृतिभाव है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की रचना करना उसका स्वभाव है।

३. बल—सृष्टि-निर्माण में श्रम का न होना परमात्मा का बल है। सांसारिक जीवों को कर्म-सम्पादन में श्रम लगता है; किन्तु परमात्मा अनायास ही करोड़ों ब्रह्माण्डों को बात-बात में रच देता है। यह उसका बल है।

४. ऐश्वर्य—विश्व-निर्माण में अथवा सृष्टि की रचना में किसी अन्य हेतु की अपेक्षा न होना ऐश्वर्य है। परमात्मा ही सृष्टि-निर्माण का स्वयं कारण है, कोई अन्य नहीं। इस अर्थ में वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। ऐश्वर्य ही प्रभु का स्वातन्त्र्य है—**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**।

५. वीर्य—परमात्मा ही सृष्टि का उपादान कारण (COUSE) है। वह स्वयं निमित्त कारण है और उपादान कारण भी। जब हम कुछ निर्माण करते हैं तो उसमें सामग्रियों की खपत होती है। ऐसा परमात्मा के साथ नहीं होता है। उपादान होने पर भी अर्थात् विश्व-निर्माण में स्वयं को लगाने पर भी उसमें कमी नहीं होती है। उस स्थिति में भी वह अविकारी बना रहता है। उसे वीर्य कहते हैं।

६. तेज—जब कुम्हार वर्तन बनाता है तो उसे चाक, डण्डा, सूत आदि वस्तुओं की आवश्यकता होती है। परमात्मा के साथ ऐसी बात नहीं है। उसे विश्व-निर्माण में सहकारी पदार्थों की आवश्यकता नहीं होती है। यही उसका तेज गुण है।

(४) ब्रूमः कथं त्वां वयम्—

इस प्रकार की ऐश्वर्य-माधुर्य गुण सम्पन्ना श्रीजी की महिमा का बखान शक्य नहीं है। ब्रह्मा की जिह्वा भी उनके गुणों के वर्णन में असमर्थ है—**न ते वर्णयितुं शक्ता गुणान् जिह्वाऽपि वेधसः**। जब ब्रह्मा भी वर्णन करने में असमर्थ हैं तो फिर हम अल्पज्ञों की स्थिति क्या हो सकती है, यह चिन्त्य है।

****

भारत और भारतीय

त्रिकालावाध्य नित्य इतिहास के अनुसार भारत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में से एक ब्रह्माण्ड के कई एक द्विपों में जम्वूद्विप का वह भाग है जिसे स्वायम्वभूव मनु के पुत्र प्रियव्रत के वंशज ऋषभ देव के पुत्र महाराज भरत के नाम पर भारत कहा जाने लगा, इसी को पहले अजनाम खण्ड भी कहा जाता था। प्रकृति के निसर्ग सुन्दर सलोना साम्राज्य प्रभु को एक ही स्थल पर भा गया था तभी तो यहीं अवतार लेते रहने का उनका स्वभाव पड़ गया है। इस देश को स्वर्ण किरीट रूप में हिमालय मिला है। जिसका लय प्रलयकाल विना सम्भव नहीं। अक्षोभ्य रत्नाकर जिसके तीन ओर सकलोल हिलोरे लिया करता है फिर भारत को सोने की चिड़ियाँ कहा जाना क्यों न समुचित है?

सुधा वाहिनी सिन्धु, गङ्गा, ब्रह्मपुत्र, यमुना आदि नदियाँ अमिट रेखाओं में बहते हुए दूरसार के कण-कण से इस देश के पावन मिट्टी के अणु-अणु को इतना सत्व सम्पन्न और आह्लादक बनाती आ रही हैं कि प्रभु भी उसमें लोटने के लिये ललच उठते हैं। स्थल-स्थल पर प्रतिष्ठित धर्म-तीर्थ इस देश की प्रजा को अपने परम प्रभु से मिला देने की घोषणा करते हैं। क्रम से छः ऋतुएँ भिन्न-भिन्न लाभ हेतु वटकर काल अविकल सेवा करने के लिये बाध्य हैं। जिसकी भूमि का नाम 'वसुन्धरा' है, जिसके गर्भ में प्रकृति ने ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण रत्नों को लाकर भर दिया है। इतना बड़ा देश किसी एक तपस्वी के नाम पर वसा हो पृथिवी पर दूसरा उदाहरण नहीं है और न कभी होगा।

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्च दक्षिणम्।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।

जैसे यह देश सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का हृदय है, उसी प्रकार इसका मध्य भाग आर्यावर्त ही हिमगिरि और विन्ध्यगिरि की मध्यवर्ती भूमि इस देश की आत्मा और सम्पूर्ण मानव सृष्टि का उद्गम स्थान रहा है। ब्रह्मा के पुत्र स्वायम्भुव मनु ही सृष्टि के आदि पुरुष हैं। जिनके दो पुत्र–प्रियव्रत और उत्तानपाद तथा तीन कन्याएँ–आकूनि, प्रसूति और देवहूति इन्हीं सबों की वंशजों से सारा संसार भरा है, सभी मानव शब्द से विख्यात हैं। यहाँ की भाषा संस्कृत के एक-एक शब्द में सारा का सारा इतिहास भरा है। वस्तु का सकारण आख्यान करता है कि पृथिवी का नामकरण विना सोचे समझे रूढ़ नहीं है; उसके पीछे इतिहास है—पृथु नाम के एक प्रसिद्ध महाशक्ति सम्पन्न राजा ने ही नंगी पृथिवी पर सर्वप्रथम जगह-जगह गाँव, नगर, छावनियाँ आदि बनाकर ऐसा अलङ्कृत कर दिया कि यह कुछ दूसरे रूप में दीखने लगी, इसीलिये उनके नाम पर पृथिवी नाम पड़ा अर्थात् पृथु से उत्पन्न, बसायी हुई।

आर्यावर्त से मानव बढ़ते-बढ़ते पूरे भारत तक और फिर धीरे-धीरे भारत से अन्यत्र भी अपनी सुविधानुसार सारी पृथिवी पर छा गये; अपनी वैदिक संस्कृति के साथ जो स्वाभाविक ही था, किन्तु यह भी नैसर्गिक कि भिन्न-भिन्न जलवायु के कारण और भिन्न-भिन्न अनिवार्य अन्यान्य प्रभावों के कारण सबों के रूप-रङ्ग स्वभाव शारीरिक गठन, आचार-विचार भिन्न-भिन्न हो गये। दिन बीतने पर मानवता के एक मात्र केन्द्र भारत से लोगों का सम्पर्क टुटने लगा और परिणाम स्वरूप भूलते-भूलते भारत और उसके रीति-रिवाज आदि सभी भूल गये तथा अपनी-अपनी सुविधानुसार मन-गढ़न्त कल्पना के सहारे भिन्न कल्पनाओं की सृष्टिकर जीने लगे। विद्युत् केन्द्र से विच्छिन्न सम्बन्ध प्रभा लुप्त हो जाती है। इसी कारण

भारत से अन्यत्र बसी मनु सन्तान अपने पूर्वजों और आदि-जन्म स्थान से सम्पर्क रहित हो उच्छृंखल हो चली। पर यह सिद्धवात है कि मूल का कुछ न कुछ प्रभाव उसके विस्तारों पर पड़े विना नहीं रह सकता। इसीलिये आज के तत्त्वशोधक वैज्ञानिक भी इसे मानते हैं। सभी देशों की रुढ़ी संस्कृति, रीति-रीवाज, भाषा आदि में भारतीयता की कुछ न कुछ झलक मिलती है। अनुकरण के लिए अनुकार्य तो होता ही है।

समय-समय पर स्थल-स्थल में इमारतों के खण्डहर भारतीय सभ्यता की शिल्प कलाएँ, मूर्तियों के ध्वंस आदि विविध भारती चिह्न अनुसन्धान में आज भी मिलते हैं, अत: घोषणा के साथ कहा जा सकता है कि जैसे भारतीय चिह्न विकृत ही सही विदेशों में मिलते हैं, वैसे अभारतीय संस्कृति के कोई भी चिह्न भारत में नहीं मिलते हैं। काल चक्र ने अन्य देशों से भारत को अलग कर दिया। इतना कि वे एक-दूसरे को विदेशी समझने लगे। वैदिक संस्कृति को सर्वथा भूल जाने के कारण यवन, शक, चीन, किरात, खस अनगिणत क्षत्रीय जातियों को भी शूद्र कोटि में घसीट लिया गया। इसी प्रकार पश्चिमीय देशों के लोगों को म्लेच्छ कहा जाने लगा।

मनु की घोषणा—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

ऐ संसार के पथभ्रष्टों? तुम किसलिये उत्पन्न किये गये हो यह जानना है तो यहाँ के अक्षयिष्णु तेजो राशि (वेद) की ओर देखो, जिसमें जगत् पिता ने जगत् का रहस्य खोलकर रख दिया है और वह मिलेगा केवल भारत के अञ्चल में और यहाँ के वेदाधिकारी अग्रजन्मा ब्राह्मण वंशजों के द्वारा ही। यह मनु की घोषणा संसार के मनु से उत्पन्न सारे मानवों को सचेष्ट करती है कि तुम मेरा ही वंशज हो फिर परस्पर इतना विलगाव क्यों? विलक्षण काल चक्र का प्रभाव से ही प्रभावित हो भारतीय सीमा से बाहर बसने वाली भारतीय सन्तति ने ही भारत पर सतृष्ण भरपूर आँखें जमाकर समय-समय पर भारतीयों को लूटने में अपना शौर्य कृतार्थ करने लगे।

अपने ही पराये हो गये। भारतीय संस्कृति की अविकल मान्यताओं के अनुकूल बसने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में बँटे देश के सपूतों को ही भारत अपना नागरिक समझता है। जिनकी सन्तति समय-समय पर देश की लाज रखने के लिये अपनी माँ की सुहाग-लाज रक्षा के लिये अपनी अन्तिम सांसों तक लड़ते-लड़ते देशद्रोहियों के दाँत खट्टे करती रही है। भारत के अन्तिम सम्राट् पृथिवीराज को देश के लिये लड़ा क्यों कहा जाता है? स्पष्ट है कि मुसलमान विदेशी थे, उन्हें देशपर आँख उठाकर न देखने देना ही राष्ट्रियता है; माँ की लाज रक्षा है—देशाभिमान है। अत: एक वार नहीं सत्रह-सत्रह बार खदेड़ने और अन्त में अपने प्राणान्त करते-करते अपने को बलि दे देने वाले ही सच्चे भारतीय नागरिक हैं। अपने रक्त के कतरे-कतरे तक देशाभिमान के मूर्तिमान्-विभूति महाराणा प्रताप क्यों लड़ते रहे? मुसलमान बहुत दिनों से यहाँ रहते आए हैं और अंग्रेज कुछ दिनों से। अत: यवन भारतीय हैं यह कथन तर्क शून्य है। दिनों की संख्या से कोई अधिकार का माप-दण्ड नहीं होता। मुसलमानों से युद्ध होते ही आया है, कब उन्हें हिन्दू समाज ने हृदय से स्वीकारा। सिंहों के नगर में सियार की नागरिकता कैसी?

इन सभी विचारों का तात्पर्य यह है कि सृष्टि सिद्धान्त के अनुसार भारत और उसमें मानव सृष्टि का होना एक अनादि घटना है। इसीलिये जबसे भारत तभी से उसमें बसने वाले भारतीय। अत: भारत

शेष पृ० १५ पर

व्यास-पूर्णिमा

भगवान् कृष्णद्वैपायन ही वेदाचार्य हैं तथा आप्तों में श्रेष्ठ हैं। वे भगवान् नारायण के अवतार हैं। उनमें सीमातीत ज्ञान, ऐश्वर्य आदि कल्याणकारी गुण है। उनमें प्रवञ्चना आदि किसी भी दोष की सम्भावना नहीं की जा सकती है। कलि के मनुष्य मन्दाधिकारी बन गये हैं। उन मनुष्यों पर कृपा करने के लिए कृष्णद्वैपायन ने वेदों का विभाजन किया। वेद तत्त्व तथा अनुष्ठान का भी प्रतिपादन किया है। दुरूह वेदार्थों के तत्त्वों के अनुष्ठान के विषय में सम्भाव्य अज्ञान संशय तथा विपर्यय को दूर करने के लिए महर्षि बादरायण ने महाभारत का प्रणयन किया। अपने वचन से क्षत्रिय विश्वामित्र को जिन्होंने ब्राह्मण बनाया, उन वसिष्ठ जी के नप्ता (नाती = पौत्र) हैं वेदव्यास जी।

महर्षि बादरायण महर्षि पराशर के पुत्र हैं। श्रीपराशर जी वसिष्ठ जी तथा पुलस्त्य जी का वरदान प्राप्त करके देवता और पारमार्थ्य को जान लिये थे, उन्होंने (पुराण संहिता) विष्णुपुराण का प्रणयन किया। श्रेष्ठ विषयों के जानकार होने के कारण महर्षि पराशर अन्य पुराणों में भी प्रख्यात हैं। व्यास जी उन्हीं के पुत्र हैं। श्रीव्यास जी विशिष्ट तपस्या को पूर्ण करने वाले तथा विशिष्ट समाधि लगाने वाले थे, अतएव सम्पूर्ण परमर्षि समुदाय उनका समादर करता था। आषाढ़ पूर्णिमा को श्रीवेदव्यास जी के अविर्भाव तिथि के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसी तिथि को वे सत्यवती के गर्भ से प्रकट हुये थे। आषाढ़ पूर्णिमा को गुरु पूर्णिमा के नाम से जाना जाता है। श्रीव्यास जी ने मानव समाज के लिए जितनी बौद्धिक सम्पत्ति समर्पित की है शायद ही इस सप्तद्वीपा वसुमती पर किसी अन्य ने समर्पित की हो।

एकाक्षरं गुरुज्ञेयम् के अनुसार एक अक्षर पढ़ाने वाला या एक अक्षर का ज्ञान कराने वाला गुरु व विरुद से विभूषित किया जाता है, इस परिप्रेक्ष्य में उन्होंने समस्त भारत को भा-रत किया, ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित किया, उनकी जन्मतिथि को गुरु-पूर्णिमा के रूप में सम्मान देना हम सभी भारतीयों का परम कर्तव्य है। श्रीव्यास जी की साधना ही भारतवर्ष की आत्मा है। ***यन्न भारते तन्न भारते***–इस उक्ति में भारत शब्द से यहाँ महाभारत ग्रन्थ तथा राष्ट्र दोनों गृहीत है। जो महाभारत में नहीं वह किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं या जो भारत राष्ट्र में नहीं वह विश्व में कहीं नहीं।जिस अमितौजा व्यास का ऐसा दृढ़, पावन, स्वाभाविक, स्वाभिमान युक्त उद्घोष है, वस्तुतः वे समग्र जगत् के गुरु, आचार्य होने की दक्षता एवं क्षमता अपने आप में रखते हैं।

ऐसे पुण्य श्लोक के आविर्भाव तिथि पर हम उन्हें नमन् करते हैं—

जयतु भारतम् * जयतु संस्कृतम् ।

पृ० १४ का शेष

भारतीयों की बपौती है, अनादि मातृभूमि है, नित्य पितृ-तीर्थ है और यही सम्पूर्ण मानवों की कर्मभूमि है और सभी तो भोग-भूमि है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ये भारतभूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्यदहेतुभूते,
भवन्ति भूयः मनुजः सुरत्वात् ।।

×**×**×**×**×**×**×

ह्रास को विकास समझना भारी भूल

वर्तमान परिप्रेक्ष्य काल में मानव-गण तथा वैज्ञानिक अपने विकास पर गौरवान्वित हो फूले नहीं समाते कि प्राचीन लोगों की अपेक्षा हमलोग सम्प्रति अधिक आगे बढ़ गये हैं; किन्तु प्रकृति के नियम को वे नहीं समझते या उस पर ध्यान नहीं देते कि दुनियाँ आदि काल के अपेक्षा अधिकाधिक ह्रास की ओर जा रही है–यही नियम है। प्रकृति का अटल नियम है।

सृष्टि के आरम्भ अर्थात् सत्युग में मनुष्यों की आयु १ लाख वर्ष की थी, २१ हाथ ऊँचाई के मनुष्य होते थे। पश्चात् त्रेता युग में दशमांश हो गया, मनुष्यों की आयु १० हजार वर्ष, मनुष्यों की ऊँचाई १४ हाथ। द्वापर में १ हजार वर्ष आयु और मनुष्य ९ हाथ। कलियुग में अधिकतम आयु १ सौ वर्ष मनुष्यों की लम्बाई साढ़े तीन हाथ। कलि के अन्त में २/३ फीट ऊँचाई और आयु १५-२० वर्ष यह ह्रास बल, विद्या, बुद्धि, विकास सबों में होगा। हमारे अनुभवी ऋषि-महर्षियों ने सभी विषय गीन गूथकर रख दिया है। रेल, वायुयान आदि के द्वारा शीघ्र गमन आज आश्चर्य का विषय लगता है, पर भारतीय इतिहास में पुष्पक विमान जैसे मनोवेग विमान की उड़ाने देखी हैं; जिसे स्वतन्त्र विहरण के लिये आकाश भी छोटा पड़ता था, यथेष्ठ व्यक्तियों को बैठ जाने पर भी जिसमें कुछ स्थान रिक्त ही रहता था। प्रस्थित हो जाने पर कभी मार्ग में गिरने की दुर्घटना का कोई वृत्त नहीं मिलता। जबकि आज के कारीगरों द्वारा बनी वायुयानों, रेल से होती दुर्घटनाओं की कोई संख्या ही नहीं। प्राचीन भारतीय रथों के लिये ***'हयेन वायुवेगेन जगाम गोकुलम् प्रति'*** इतिहास में लिखा मिलता है। आज का वायुयान वैसा नहीं जैसा कि तब के रथ-घोड़े वायु से होड़ लेते थे। यह पूर्वकाल के अपेक्षा नितान्त ह्रास है। सच बात तो यह है कि आविष्कारों में जितने गुण प्रतीत होते हैं, उनसे कहीं अधिक उनके चारों ओर भीषण दूषण मण्डराते रहते हैं जिसका परिणाम होता है–पग-पग पर खतरा। इसीलिये इन सभी क्रियाओं की समानता के लिये प्राचीन भारत ने योग पद्धति का आविष्कार किया था, जिसकी सिद्धि हो जाने पर अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि आठों सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती थी। जिसके द्वारा मनुष्य परमाणु जैसा सूक्ष्म बनकर जहाँ चाहे वहाँ चला जाये। अपनी देह छोड़ दूसरे शव में प्रवेश कर जाये। इच्छानुसार हिमालय सा भारी या उससे भी मुस्तर हो जावे यह सभी मनुष्यों की हाथ की बात थी। पीछे-की बात जाने दीजिये अभी की बात है जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्य मण्डन मिश्र पर विजय हेतु प्रयाग से माहिष्मती आकाश मार्ग से ही गये थे— ***'गच्छन् खसृत्या पुरम् लुलोके माहिष्मतीं मण्डन मण्डितां सः'***। इस पद्धति से उन्हें क्षणभर का समय लगा होगा। दुर्घटना की कोई सम्भवना ही नहीं।

दुष्प्राप्य बहुत सी धातुएँ जुटाकर कितने कारीगरों में मजदूरी फूंक देने पर तब कहीं आज की आविष्कृत वस्तु काम में आती है, फिर भी खतरा से भरा। पूर्व में एक योगी अपनी यौगिक क्रिया के आधार पर सहस्त्रों वर्ष तक अपना प्राण वायु रोक रखता था और भूत-भविष्य की सारी बातें उसकी आँखों के सामने नाचने लगती थी; एक समाधिस्थ योगी एक आसन पर बैठे-बैठे सारे ब्रह्माण्ड को जान लेता था, आज के रेडियों, वेतार का तार से वृत्त जानने में बुद्धि कौशल है कि यौगिक क्रिया से? रेडियो, तार आदि के स्टेशनों में होती ही रहती है, नव मनुष्य यन्त्रों का जो क्रीतदा बना सा हाय तोबा मचाने लगता है। यह दृश्य कर्मियों में सर्वाधिक देखने को मिलता है, पर यौगिक पद्धति से इन कामों को हल करने में किसी भी भाँति उपद्रव की सम्भावना नहीं–यह सर्वश्रेष्ठ, निर्विकार पद्धति है, इसीलिये भारतीय

छः शास्त्रों में एक योग शास्त्र भी माना गया है जो मनुष्य पर इह लोक-परलोक दोनों प्राप्त करने के लिये 'शासन' करता है–न टुटने का डर, न विगड़ने का, न तेल की आवश्यकता न पानी की।

आयु बढ़ा लेना आज किसी यन्त्र से सम्भव नहीं, जबकि अरण्यवासी महर्षियों के लिये यह खेल था। मनुष्य अपनी आत्मा और उसके तथा शरीर के सच्चे सम्बन्ध को जानकर मानस धर्मों पर इतना नियन्त्रण कर लेता था कि एक योगी के शाप से प्रलय मचने लगता और अनुग्रह पर अमृत वरसने लगता। निग्रह और अनुग्रह का है सामर्थ्य किसी में? अन्तरिक्ष की यात्रा पर बहुत प्रसन्नता मानते हैं आविस्कारक; किन्तु यह भूल जाते हैं कि इन्द्र लोक के इन्द्रासन भारतीय रघुवंशी एवं अन्य पराक्रमी सम्राटों द्वारा सुशोभित होता था–'अर्ध सिंहासन आसनं देहि'। वे लोग अपने रथ से ही जाते थे, वह भी इन्द्र की रक्षा करने के लिए और आते थे–विजय श्री लेकर। सोचिए? कौन-सी पद्धति बड़ी पहले वाली या आज की। आज परमाणु अस्त्रों के विस्फोट पर मानव इठला रहा है, पर प्राचीन अस्त्रों से अन्तरिक्ष कांपता था; इसे कैसे लोग भूल जाते हैं, एक ओर से अग्नि बाण चलकर प्रलय मचाता था। तो दूसरी ओर से वारुणास्त्र उसे बूझा देता था। असंख्य सर्पबाण छूटे नहीं कि मयूरों का हिमालय तैयार। पाशुपतास्त्र और चक्र सुदर्शन की कथा ही अद्भुत है। ये सब चलते थे शास्त्र मन्त्रों के बल पर। कहिये उन-उन मन्त्रों की वर्णानुपूर्विका द्रष्टा युग विकसित था, कि आज का। कैसे भूलाया जा सकता है—

गगनः गगनाकारः सागरः सागरोपमः ।
राम रावणयोर्युद्धं राम रावणयोरिव ।।

ऐसी-ऐसी माया की खोज हुई थी कि क्षण में प्रकाश, क्षण में अन्धकार, रात-दिन में कोई अन्तर नहीं। रूप बदल लेना क्षणों का काम था। हमारे इतिहास, रामायण, महाभारत–इन तत्त्वों पर विशेष प्रकाश डालते हैं। अतः संक्षिप्त निर्देश ही उपयुक्त जान पड़ता है। कहते हैं कि 'आज की मशीनों से कपड़े अधिक सस्ते और सुन्दर बनने लगे हैं। मशीनों से वस्त्र बनने में स्वस्थ आर्थिक दृष्टि से जो हानियाँ हैं, वे तो हैं ही, पर थोड़े में इतना तो अवश्य समझा जा सकता है कि तब के लोग नंगे तो नहीं रहते थे, पर्याप्त से भी अधिक वस्त्र दान में दिये जाते थे, वह भी हाथ के ही बने होते थे। सुन्दरता के लिये माघ का वर्णन—

छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र, स्वच्छानि नारी कुच मण्डेषु ।
आकाश साम्यं दधुरम्वराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि ।।

ढाका के मलमल नहीं भुलाये जा सकते। राजाओं के वेलवूटे पहनावे के लिये इतिहास देखिये। मशीन द्वारा निर्माण में समय बचाकर क्या नया पा लिया गया? ढाका के बने मलमल का एक थान अङ्गुठी के छिद्र में भरकर राजा को उपहार में दिया गया था। बुद्धि की उपज जाने दीजिये। शारीरिक गठन और बल को ही लीजिये। क्या किसी देश का सत्यवक्ता यह नहीं मानेगा कि क्रमशः पूर्वजों की अपेक्षा उत्तरोत्तर की सन्ताने माप में छोटी, दुर्बल, पतली, क्षीण, निर्वीर्य, कायर और नपुंसक हो रहीं हैं? सबकी शूर वीर गाथाएँ कल्पित हैं। राणा प्रताप के हाथों में नाचने वाले वरदानी भाले को कोई भी इधर से उधर १०/५ बार घुमाने की शक्ति नहीं रखता, केवल कहने को विकास किन्तु है ह्रास। वीरों की गाथाएँ इतिहास व्यक्त करता है। वीर का चित्र देखें—

मुखाग्रे निखिलाः वेदा कराग्रे सशरं धनुः ।
तस्य द्रोणस्य सामर्थ्यं शापादपि करादपि ।।

मान्धाता, रघु, अज, दिलीप, राम और लव-कुश आदि की वीरता कोई भूल नहीं सकता। चन्द्रगुप्त इतिहास में चमक रहा है। राणाप्रताप का प्रखर प्रताप अभी धूमिल नहीं हुआ है। चूहों से भी डरने वाली आज की स्त्रियों को देश की सरकार द्वारा समानता का अधिकार दिये जाने तो चाहिए, पर है वह बल किसी में जिसका सामना करते-करते बत्तीसो दाँत टूट गये थे अंग्रेजी सेना की। अड़ियल घोड़े पर चढ़ी दुधर्ष तेजस्वीनी, मूर्त्तिमत्ती, रणचण्डी महारानी लक्ष्मीबाई, जिसकी तलवार की नोक से वहीं रुधिर की नदी में डुबते झाँसी के मैदान?

आज जिन ग्रहों, देवताओं के कोप से संसार जल रहा है, उन्हें भी मनुष्य ने बाँधकर रखा था। कहिये विकास है या ह्रास? तब का संगीत, मेघराग जल बरसाता था, दीपक राग दीप जला देता था, तूफान मच जाता था, पेड़ के फल नीचे गिर जाते थे क्यों? इसलिये कि उन राग-रागिनियों वर्णों की ध्वनि रचना ऋतु और स्थिति के अन्तस्थल की वास्तविक गहराई और उसके कण-कण से अनुस्यूत उस महागायक के सांस का अध्ययन करके ही की जाती थी, जिसकी रागिनी बन्द होने पर गाता मनुष्य सदा के लिये चुप हो जाता था। सामवेद और आज के सिनेमा के गीत?

वह कला, कला नहीं बला है जिसमें चित्र-विचित्र या कलाकार चित्रित न किया जाय। कला एक अनुकृति होती है और वह तब तक पूर्ण नहीं होती, जबकि अनुकार्य पूर्णपदार्थ न हो, जो ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई हो नहीं सकता। तब की कला मुँह-मुँह बोलती थी, मूर्तियाँ हंस भी देती थी; क्योंकि वह केवल कला नहीं होती थीं, उसमें आत्मा का पूर्ण प्रतिबिम्बन होता था।

विनय प्रेम वश भई भवानी। खसी माल मूरती मुसुकानी।।

तब के वन्दर भी इतने शिल्प कुशल होते थे कि रामेश्वर से लङ्का तक समुद्र पर सेतु पूल बाँधकर राम की सारी सेना पार कर दिये थे, आज वैसा है कोई? शिल्पकला, वास्तुकला, ललितकला आदि सभी कलाएँ इतिहास बताती है कि इतने उच्च शिखर पर थी, जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। मन के भावों को सभी को समझने योग्य शब्दों में और भी लिपियों में ढाल देने की कला आज भी नहीं है।

माना कि प्रेस नहीं थे; किन्तु हाथ प्रेस से अधिक थे। एक-एक विद्वान् को अनेक ग्रन्थ मुखाग्र रहते थे, जिनका प्रभाव आत्मा पर अमिट पड़ता था। आज की चिकित्सा पद्धति आपरेशन पर फूली नहीं समाती दुनिया, पर यह सब प्राचीन युग में सहज ही हो जाता था और कोई भी आपरेशन असफल हो ही नहीं सकता था। यज्ञकलश का जल भूल से भी पी लेने पर रह गये गर्भ का आपरेशन से निकाला जाना अत्यन्त प्रसिद्ध घटना है। आज का कोई चिकित्सक किसी रोग को अच्छा करने की अविचल प्रतिज्ञा नहीं कर सकता। रोगी भाग्य से ही अच्छे होते हैं, नहीं तो बड़े से बड़े डाक्टरों की चिकित्सा होते हुए भी लोग क्यों मर जाते हैं? है मृत्यु रोकने की कोई दवा? परन्तु जब योगी महात्माओं के एक वचन मात्र से मरे हुए लोग भी कुछ दिनों के लिये जी उठते थे। समुद्र भी पीकर लोग पचा लेते थे। दवा रोग की ही नहीं मृत्यु तक की होती थी, इतना ही नहीं रोग का जन्मान्तरीय निदान (कारण) ढूँढ़कर उसे निर्मूल कर डालने की औषधियों का प्रचलन था। ऐसी-ऐसी जङ्गली औषधियाँ थीं, जिसके सेवन से भूख, प्यास लगती ही नहीं थी, तभी तो लोग आरयण्यक थे। 'हाय कहाँ तक चढ़ी चिकित्सा, आज किस गर्त में गिर गयी है, इसी प्रकार सभी क्षेत्रों में प्राचीन सभ्यता शिखरारुढ़ थी, यह इतिहास से समझना चाहिए।

शेष पृ० २४ पर

वेदान्त का सिद्धान्त

प्रकृति और पुरुष, जड़ एवं चेतन से बना संसार ब्रह्म के एक चरण में स्थित है, अत: ब्रह्म की त्रिपाद्विभूति दिव्यधाम परमपद ही है, परब्रह्म परमेश्वर श्रीमन्नारायण भगवान् शुद्ध सत्त्व के बने शरीर में अनन्त कल्याण (शुभ) गुणों के सागर वर्त्तमान हैं। परब्रह्म परमेश्वर में हेय (दुष्ट) गुण या प्राकृत गुण नहीं है, न प्राकृत तत्त्वों से बना उनका शरीर ही है, अत: उपनिषदों में उन्हें कहीं-कहीं निर्गुण, निराकार भी कहा गया है, परन्तु वस्तुत: वे सगुण साकार हैं, वे निर्विकार तो हैं ही। उनका शरीर निर्मल, निर्विकार, शुद्ध, सत्त्व से बना है और वे अनन्त कल्याण-गुण-सागर हैं। वे पतितपावन और अशरण-शरण्य हैं। वे शरणागतवत्सल हैं और सदैव शरणागत की रक्षा करते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

शरणागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिनहिं विलोकत हानि।।

कोटि विप्रवध लागे जाहू। आये शरण तजहुं नहिं ताहू।
सम्मुख होहिं जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अधनाशौं तबहीं।।

परब्रह्म ज्ञानानन्द स्वरूप हैं, वे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज इत्यादि अनन्त कल्याण गुणों से युक्त हैं, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी हैं।

जीव ज्ञानानन्द-स्वरूप हैं, ज्ञान गुणवान् हैं, अणु हैं, अनन्त हैं, असंख्य हैं।

बद्ध जीव अनादि अविद्या (अज्ञान) से सञ्चित जो पुण्य-पाप रूप कर्म हैं, उन कर्मों के कारण प्रकृति सम्बन्ध (शरीरादि-सम्बन्ध) रूप-संसार को प्राप्त हो जाते हैं। उनका स्वभाविक रूप छिप (आच्छादित) जाता है।

बद्ध जीव अनादि अविद्या से ढँका हुआ है, जिससे उसका कर्म-संस्कार नष्ट नहीं होता और बिना कर्म-संस्कार नष्ट हुए उसका वास्तविक रूप प्रकट नहीं होता।

आचार्य शङ्कर ने परमार्थ पक्ष में ब्रह्म को सत्य, संसार को मिथ्या और जीव को ब्रह्म माना है। ब्रह्म सत्य है, इसको सभी आचार्य–शङ्कर, माधव, निम्बार्क, वल्लभ, श्रीरामानुज जी सब मानते हैं, पर आचार्य शङ्कर का कथन है कि ब्रह्म निर्गुण, निराकार और निर्विशेष है, पर रामानुजाचार्य का कथन है कि ब्रह्म सगुण, साकार और चिदचिद्विशिष्ट है। ब्रह्म को निर्विशेष मानने के कारण शङ्कर को कहना पड़ा कि संसार मिथ्या है। ब्रह्म को चिदचिद् विशिष्ट नहीं मानने से संसार की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। पर संसार सत्य है और संसार का अस्तित्व सभी प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है। सत्यता के तीन प्रमाण हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। संसार को हम देखते हैं, सुनते हैं और सभी ज्ञानेन्द्रियों से संसार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। आचार्य शङ्कर का कथन है कि अविद्या से प्रभावित होने पर प्रत्यक्ष भी धोखा देता है, जैसे दिग्भ्रम होने पर हम पूरब को ही पश्चिम समझने लगते हैं, पर दिग्भ्रम तो सबों को एक साथ एक रूप में नहीं होता है। भ्रम एक साथ सबों को एक ही रूप में नहीं लगा रहता है, परन्तु संसार को हम सब कोई एक ही रूप में सदैव देखते रहते हैं, इसलिए यह भ्रम नहीं, सत्य है यदि कोई कहे कि संसार स्वप्न है तो यह भी गलत है। सारे संसार के सभी आदमी एक ही स्वप्न सब दिन देखते रहेंगे, यह सम्भव नहीं है। सभी आदमी सदैव एक ही स्वप्न देखें, यह असम्भव है। भिन्न-भिन्न आदमी भिन्न-

भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न सपने देखते हैं। यदि संसार के सभी लोग सदैव एक ही दृश्य देखते रहें तो वह भ्रम नहीं, सत्य है।

अनुमान से भी संसार की सत्यता सिद्ध हो जाती है। किसी बर्त्तन में दूध या पानी है और बर्त्तन में एक छेद है, जिससे बर्त्तन के भीतर का पदार्थ कुछ-कुछ बारह निकल रहा है। अब बाहर निकले हुए पदार्थ को जाँचकर हम कह सकते हैं कि बर्त्तन में क्या है? दूध है, या पानी है। संसार ब्रह्म से निकला है, इसमें प्रमाण भी है—

(१) यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते (तैत्तिरीयोपनिषद्)।

(२) जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र)। अब संसार यदि ब्रह्म से निकला है और ब्रह्म यदि सत्य है (जैसा सब मानते हैं), तो संसार भी सत्य है। सत् से असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'सत् से सत् की ही उत्पत्ति हो सकती है। ब्रह्म यदि सत्य है, तो संसार असत् नहीं हो सकता।

(३) ब्रह्म ही जगत् के उपादान निमित्त तथा सहकारी कारण है, अर्थात् ब्रह्म ने अपने आपसे, अपने शरीर से संसार को निकाला। सत्कार्यवाद बतलाता है कि कारण ही भिन्न परिस्थिति में कार्य बन जाता है।

ब्रह्म का शरीर ही जगत् है। ब्रह्म सत्य है, अतः ब्रह्म से निकला संसार भी सत्य है। ब्रह्म कारण है, जगत् कार्य है, अतः सत्य है। इस स्थिति में आचार्य शङ्कर के जगन्मिथ्यात्व का खण्डन हो गया।

(क्रमशः)

जब गुरु-शिष्य का सम्बन्ध हुआ

श्रीमधुर कवि स्वामी भरत जी के अवतार माने जाते हैं। इनका जन्म तिरुकाला नामक स्थान में एक सामवेदी ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये वेद के बड़े अच्छे ज्ञाता थे; परन्तु इन्होंने सोचा कि प्रेम भक्ति और तत्त्व बोध के बिना विद्या किसी काम की नहीं। ऐसा विचारते हुए उन्होंने सब कुछ त्यागकर अकेले तीर्थ यात्रा के लिये प्रस्थान किया। इनके मन में भगवत प्रकाश प्राप्त करने की बड़ी अभिलाषा थी। इसी उद्देश्य से ये अयोध्या, मथुरा, काशी अनेक स्थानों पर गये।

एक दिन जब ये गङ्गा तट पर विचर रहे थे तो इन्हें दक्षिण की ओर एक बड़ा प्रकाश दिखाई दिया। यह प्रकाश लगातार तीन दिनों तक उनको दिखाई देता रहा। ये उस प्रकाश से इतने आकर्षित हुये कि ये उसके पीछे-पीछे बहुत दूर चले गये। जब ये कुरूकापुरी में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वह प्रकाश सहसा लुप्त हो गया। पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि वहाँ एक महान् योगी रहते हैं। ये उन योगीराज के पास गये और देखा कि वे एक मन्दिर के पास एक इमली के पेड़ के कोटर में समाधिस्थ हुये बैठे हैं। मधुर कवि जी बहुत देर तक तो इस आशा में बैठे रहे की महात्मा की समाधि टुटे तो उनसे कुछ बात-चीत की जावे। उन्होंने योगीराज को आवाज दी। उनकी समाधि तोड़ना चाहा, किन्तु उनके सब प्रयोग विफल हुए। पश्चात् मधुर कवि जी ने उनके पास जाकर कहा कि मैं आपसे कुछ बात करना चाहता हूँ। तब योगिराज ने उनके प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया। मुधर कवि जी के भाव के अनुरूप उनको गुरु मिल गये और श्रीशठकोप स्वामी जी को स्वेच्छानुसार शिष्य मिल गया। दोनों का गुरु-शिष्य सम्बन्ध पक्का जुड़ गया।

श्रीशठकोप स्वामी इस धरातल पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

*****

प्राकृत भोजन तथा परमभोजन का रहस्य

बालक ने कहा—'प्रकृति आपकी लीला का प्रसार है और अध्यात्म आपकी पावन महिमा का उपहार है ।'

एक दिन महीसागर-सङ्गम पर ब्रह्मवेत्ताओं का विशाल समागम हुआ। विभिन्न विषयों पर चर्चा चल रही थी। वहाँ उपस्थित एक बालक जिसका नाम कमठ था वह एक के बाद एक सभी प्रश्नों के उत्तर दे रहा था, तभी पूर्व दिशा से एक सन्तरूपधारी तेजस्वी पुरुष वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने ज्ञानमण्डल के सदस्यों से प्रश्न पूछने की अनुमति माँगी। प्रश्न किया–एक प्राकृत भोजन होता है, दूसरा परम भोजन होता है। क्या आप सब मुझे परम भोजन प्रदान करेंगे? सभी के तर्क-वितर्क के बाद बालक कमठ ने कहा–हे ज्ञानिश्रेष्ठ! प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों से बने शरीर को जो तृप्त करता है, वहीं प्राकृत भोजन होता है। नाना प्रकार के धर्म का श्रवण अन्न है, दोनों कान उस अन्न को ग्रहण करने वाले मुख हैं और क्षेत्रज्ञ आत्मा उस अन्न का भोक्ता है। ऐसा आत्मा को तृप्त करने वाला भोजन परमानन्द देता है, वहीं परम भोजन कहलाता है।

आगन्तुक ने पुनः प्रश्न किया–प्राणी परमपद कैसे प्राप्त कर सकता है? बालक कमठ ने उत्तर दिया—

यैस्त्यक्तो ममताभावो लोभकोपौ निराकृतौ ।

ते यान्ति परमं स्थानं कामक्रोधविवर्जिताः ।।

ममता, लोभ, क्रोध आदि का त्याग करने से प्राणी को परमपद की प्राप्ति होती है। अनेकानेक प्रश्न पूछने के बाद आगन्तुक ने प्रश्न किया–प्रकृति और अध्यात्म का संयोग सूत्र कौन-सा है? बालक कमठ ने विहँसते हुए कहा—हे भुवन भास्कर! प्रकृति आपकी लीला का प्रसार है और अध्यात्म आपकी पावन महिमा का उपहार है।

गूढ़ उत्तर सुनकर भुवनभास्कर अपना बनावटी वेष त्यागकर सूर्यदेव के रूप में प्रकट हुए। महीसागर-सङ्गम भगवान भुवनभास्कर की कोटि-कोटि रश्मियों से आलोकित हो उठा। मुनि समुदाय एक स्वर से सूर्यमन्त्र उच्चारित करने लगे। हारीत मुनि के नेतृत्व में समस्त ब्रह्मवेत्ताओं ने सूर्यनमस्कार कर दण्डवत् प्रणाम निवेदित किया।

बालक कमठ ने बड़ी विनम्रता से प्रार्थना कि—हे भुवनभास्कर! आपकी उपस्थिति से यह महीसागर-सङ्गम धन्य हो गया। इसे आप तीर्थ का गौरव प्रदान कीजिये। हे प्रभो! आज के ही दिन प्रतिवर्ष अपनी अध्यात्म रश्मियाँ इस स्थल को प्रदान कर महीसागर-सङ्गम स्नान करने वालों को मोक्ष का लाभ प्रदान करने का वरदान दीजिये। भुवनभास्कर ने कहा—***तथास्तु***।

तब से आज तक महीसागर-सङ्गम को जयादित्यतीर्थ–गङ्गासागर तीर्थ कहा जाता है। मकर संक्रान्ति के दिन यहाँ स्नान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसा भी कहा जाता है कि श्रद्धालु निष्ठावान् आदित्य-भक्तों को वहाँ बालक कमठ के द्वारा उस दिन अदृश्य भाव से जो मन्त्रोचार हुआ था वह ध्वनि आज भी सुनायी पड़ती है।

******

भारतीय मनीषा और राष्ट्र की सङ्कल्पना

—केशव किशोर कश्यप
शोध छात्र
संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

'राज्' धातु के साथ 'ष्ट्रन' प्रत्यय के संयोग से 'राष्ट्र' शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका आशय है–राज्य, देश, साम्राज्य आदि। राष्ट्र क्या है? यह कैसे बनता है, यह किसका होता है? क्या भारत वर्ष एक राष्ट्र है? ऐसे अनेक प्रकार की जिज्ञासा उन सभी के अन्त:करण में उत्पन्न होती है जो अपने को राष्ट्रवादी, राष्ट्रभक्त या राष्ट्रीय के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

'माता भूमि: पुत्रोऽहम् पृथिव्या:' के परिचय से विभूषित भारत एक प्राचीन राष्ट्र है, जिसकी उदात्त भावना का विस्तार है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'। साथ ही 'सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया' जिनके लक्ष्य और आदर्श हैं, ऐसे गुणों से परिपूर्ण हमारे वैदिक ऋषि विश्वात्मा की अनुभूति करने वाले रहे हैं। उनकी दृष्टि में पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों में देश-कालादि भेद के कारण कोई भेद नहीं है। भारतीय मनीषा की राष्ट्र सङ्कल्पना, चेतना और आराधना का विचार—'परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्' से सङ्कल्पित रहा है।

डॉ० शान्तिदेव बाला ने इस सन्दर्भ में कहा है कि 'राष्ट्र ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो एक निश्चित स्थल के निवासी हो, जो सामान्यत: विभिन्न जातियों के हों; किन्तु समान इतिहास से ग्रहण किये विचारों एवं भावनाओं के परिपोषक हों, समग्र रूप से जो वर्तमान की अपेक्षा अतीत की स्मृतियों के कारण अधिक सम्बद्ध हों, जिनके धार्मिक विश्वास तथा विचार-प्रकाशन की भाषा एक हो, समान विचारों तथा भावनाओं के साथ जो एक सामूहिक इच्छा में विश्वास करते हों तथा इस सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति और पूर्ति के लिए एक विशिष्ट राज्य का निर्माण कर लिया हो या करने के इच्छुक हों (अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सिद्धान्त, भाग-१, पृ०-१४२)।

पं० दीनदयाल उपाध्याय का राष्ट्र विषयक अभिमत है कि 'जब एक मानव-समुदाय के समक्ष एक मिशन, विचार या आदर्श रहता है और वह समुदाय किसी भूमि-विशेष को 'मातृभाव' से देखता है तो वह राष्ट्र कहलाता है।

ऋग्वेद में जहाँ एक ओर 'वयं राष्ट्रे जाग्रयाम पुरोहिता:' के माध्यम से राष्ट्र की रक्षा के लिए जागृत रहने का आह्वान किया है। वहीं दूसरी ओर 'यतमेहि स्वराज्ये' के द्वारा स्वराज्य में प्रयत्नशील रहने के लिए कहा गया है।

अथर्ववेद में भी ऋषियों द्वारा निर्मित राष्ट्र की सेवा का आह्वान किया गया है, यथा–

भद्रं इच्छन्त ऋषय: स्वर्विद: तपो दीक्षां उपसेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातम् तदस्मै देव्य उप सं नमन्तु।।

(अर्थात् आत्मज्ञानी ऋषियों ने जगत् का कल्याण करने की इच्छा से सृष्टि के प्रारम्भ में दीक्षा लेकर तप किया, उससे राष्ट्र का निर्माण हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज प्रकट हुआ। अत: सभी सुबुद्ध जन इस राष्ट्र के सामने नम्र होकर इसकी सेवा करें।)—अथर्ववेद-१९.१४.१।

'राष्ट्र' से जिस मानव समुदाय का बोध होता है उसे हम 'जन' कहते हैं। 'जन' एक जीवन्त सत्ता है, जो स्वयं विकसित होती है। जीवन्त 'जन' का विकास कोई बाहरी वस्तु नहीं कर सकती। राष्ट्र का विकास अथवा उसका निर्माण भवन आदि की भाँति नहीं किया जा सकता। सृष्टि ही राष्ट्र का सृजन, अभ्युदय, उत्थान, पुनरुत्थान एवं पतन आदि का निर्धारण करती है। सृष्टि द्वारा निर्धारित जीवनोद्देश्य को जब तक राष्ट्र निभाता है, तदनुसार कार्य करता है, तब तक वह अस्तित्व में बना रहता है, प्रगति और उत्थान करता है।

भारतीय मनीषा में राष्ट्र की सङ्कल्पना धरती के जिस भू-खण्ड से है, उसके साथ भारतीय जनसमुदाय का सम्बन्ध माता और पुत्र का है। अत: आम जन को पोषण संवर्द्धन की शक्ति उसी तरह भूमि से ही मिलती है, जैसे हमें हमारी माँ से प्राप्त होती है। हमारे मनीषियों की दृष्टि में भारत भूमि-खण्ड न होकर जीवन्त मातृशक्ति के रूप में उपस्थित है। इसीलिए हमारी राष्ट्रीयता का आधार भारतमाता हैं। माता के साथ पुत्र का लगाव, उसके प्रति प्रेम-भाव का उदय होना, परस्पर एक दूसरे के सुख-दु:ख की चिन्ता करना सहज और स्वाभाविक है। अस्तु, पुत्ररूप एक 'जन' और मातारूपी 'भूमि' के मिलने से ही 'राष्ट्र' की सङ्कल्पना होती है। देश के प्रति लगाव, समर्पण का भाव ही देशभक्ति है।

किसी राष्ट्र के जीवनोद्देश्य के प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि सृष्टि ईश्वरीय कृति है; अत: सृष्टि में भूमि का बाह्य स्वरूप–जल, थल, वन, पर्वत, सागर आदि के सम्बन्ध भले ही भिन्न-भिन्न हों; वहाँ मानवों के रहन-सहन के तौर-तरीके, खान-पान आदि भले ही भिन्न हों; सृष्टि के समस्त प्राणियों में विद्यमान रहने वाले प्रेम व मानवता का भाव तो सब में एक जैसा ही होना चाहिए। वहीं ईश्वरीय गुण है। इन्हीं शाश्वत मूल्यों को जीवित रखने के लिए यजुर्वेद (२-२) में ऋषि ने परमात्मा से 'ॐ आब्रह्मणन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यन्य: ....योगक्षेमो न कल्पताम्' के द्वारा प्रार्थना करते हुए कहा है कि 'राष्ट्र में द्विज ब्रह्म-तेजधारी हो, क्षत्रिय शक्ति सम्पन्न एवं दुष्टों का विनाश करने वाले, सबकी रक्षा करने वाले हों, गायें दुग्ध देने वाली, औषधियाँ फल-फूल से लदी हों, बादल समय पर वर्षा करें। सभी का कल्याण हो।'

लोक-व्यवहार में प्रायश: यह देखा जाता है कि किसी भी कार्य को सम्पादित करने के लिए प्रथमत: एक योजना बनायी जाती है और छोटे-छोटे ईकाईयों के माध्यम से उसे सम्पन्न किया जाता है, यथा– राष्ट्र की रक्षा हेतु सेना के जल, थल, वायु–ये तीन विभाग निर्धारित हैं। उनके सभी उप-विभागों के कार्य करने के तौर-तरीके, नियम, ढंग अलग-अलग होते हुए भी सभी का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र की बाह्य आक्रमणों तथा विविध प्रकार के सङ्कटों से रक्षा करना ही है। जब सेना के तीन अङ्ग अपनी मर्यादाओं का उल्लङ्घन कर आपस में ही वर्चस्व स्थापित करने के भाव से परस्पर सामञ्जस्य खोकर दूसरे की प्रतिभा को नष्ट करने का प्रयत्न करने लग जायें और मुख्य उद्देश्य से च्युत (विरत) हो जायें तो अनुचित करने वाले आन्तरिक विभाग को दण्ड आदि के माध्यम से मुख्य धारा में लाना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार राष्ट्र-जीवन में भी होता है। जब कोई राष्ट्र मर्यादाओं का अतिक्रमण कर दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता में बाधक बनता है, तब उस राष्ट्र को सत्यमार्ग पर लाने के लिए संघर्ष, युद्ध आदि जो भी उचित और आवश्यक हो, करना पड़ता है।

आज भारत की अस्मिता, संस्कृति पर कुठाराघात कर अपने प्रभाव में लेने तथा अपने सङ्कीर्ण विचारों को भारत पर लादने की दिशा में प्रयत्नशील जो भी देश या राष्ट्र हैं, उनका प्रतिकार करना ही हमारा प्रमुख धर्म है। वस्तुत: इस प्रकार के कार्य देव-कार्यों की श्रेणी में आते हैं। इसलिए 'त्वदीयाय

कार्याय बद्धा कटीयं' की उदात्त भावना रखनी चाहिए। 'परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्' अर्थात् इस राष्ट्र को परम वैभव पर पहुँचाना है, जहाँ से वह मानवता की सेवा और रक्षा कर सके। सङ्गठित होकर उठना और आगे की ओर अग्रसर होना ही प्रगति का एकमात्र विकल्प है। सामुदायिक जीवन जीना ही अमरत्व प्राप्त करना है।

राष्ट्र की आराधना की भावना के साथ व्यक्ति का त्याग और समष्टि के चिन्तन को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। इन सत् सिद्धान्तों के प्रति आस्था के साथ-साथ सम्यक् आचरण करने वाले प्रातःस्मरणीय मनीषिगणों के उपदेश और उनकी राष्ट्र-सङ्कल्पना हम सभी के लिए प्रेरणा स्रोत हैं। अतः हम उन्हें सादर नमन करते हैं। इति।

****

पृ० १८ का शेष

पुराने लोग अधिकर जङ्गलों में रहते थे, यह विल्कुल सही है; पर वे लोग थे, जिन्हें संसार की असारता और संसार स्रष्टा की एक मात्र सारता ज्ञात हो गई थी। संसार से विमुख होने पर साधना के लिये धूर्त सांसारिक जन समुदाय से दूर रहकर, अरण्य, आरण्य-कुटियों, पर्वत कन्दराओं के अतिरिक्त कोई मार्ग हो ही नहीं सकता। पर सभी लोग साथ ही आरण्यक नहीं बन जाते थे, किन्तु कुछ ही बुद्धि सम्पन्न लोग ऐसा करते थे और इसीलिये आश्रमों की अनिवार्य व्यवस्था की गयी थी। तृतीय और चतुर्थ आश्रम के ही लोग अभक्ष, वायुभक्ष, अरण्य निवासी आदि बनते थे, अवशिष्ट सभी धर्म-नियन्त्रित ऋद्धि सिद्धि, सुख सम्पत्ति, आराम, शान्ति आदि का अनुभव कर लेते थे, अमृतमय गार्हस्थ्य का मधुर रस पीते थे। विधिवत् आराधनाओं से प्रसन्न देवता लोग उन्हें क्या नहीं दे देते थे? रजत, स्वर्ण, मणि-मुक्ता हीरे आदि की दीवारें होती थी, गगनचुम्बी अट्टालिकाओं पर से कुल वधुएँ चन्द्रदर्शन-चान्द्रयण व्रत आदि करती थी, जीवन के सभी क्षेत्रों में धर्म का शासन था, अतः क्रान्ति, उपद्रव आदि अपवाद रूप से होते थे, साधारण रूप से नहीं। है कोई तार्किक जो संसार की सारता और उन्मुक्त जीवन में वास्तविक सुख शान्ति सिद्ध कर सके? जब मरना अवश्य है, यहाँ से चल जाना ही पड़ेगा, तो जहाँ जाना है वहाँ की सोचें कि यहाँ की, यहाँ का दृश्य केवल यही है।

धनानिभूमौपशवश्च गोष्ठे, नारी गृहद्वारि सखा श्मशाने।
देहश्चितायां परलोक याने, धर्मानुजो गच्छति जीव एकः।।
धर्माः सखा परमहो परलोक याने।

यदि यह सब सत्य है, तो संसार जञ्जाल छोड़ अरण्य में रहना सभ्यता है कि असभ्यता इसका निर्णय आज के सभ्य लोग ही करें। आज का मानव अपनी ही आँख को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानता है, पर यदि मनुष्य की आँखे ही पूर्ण प्रमाण होती, सब कुछ देख सकतीं, तो फिर दूरवीक्षण आदि यन्त्रों के सहारे और अधिक नहीं दिखता, पर दिखता है अधिक। अतः अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त-भूगोल, अनन्त भुवन, दधी, मधु, घी के सागर आदि को मनुष्य से न दीखने के कारण अनस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। फिर ये सब हैं तो इन्हें जिसने देखकर लिखा होगा वह बुद्धिमान था या हम। इसका निर्णय निर्मत्सर विद्वान् ही करें।

****

नरक-स्वर्ग का रहस्य

अविकल हेतु ही अविकल कार्य उत्पन्न कर सकता है, अत: कीचड़ के एक कुण्ड में आंशिक धर्म के आचरण से फल देने वाला अधिनायक फल भी आंशिक ही देगा–वह यह कि कीचड़ के उस कुण्ड से जिसमें आप नाकों तक डुबे हुए थे, निकाल कर उस कुण्ड में डाल दिये जाओगे, जहाँ कीचड़ घुटने तक ही है—यहीं कुण्ड 'स्वर्ग' कहलाता है और इसी के लिये बताया गया है—***'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'***। हमारे कीचड़ सागर की सीमा भी कुछ कम नहीं है—***'आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन:'*** से सर्वोपरि ब्रह्मलोक तक यह सागर फैला हुआ है, नरग-स्वर्ग सब इसके अन्दर ही है। पुनरावर्तिस्व का अर्थ है उस कुण्ड से इस कुण्ड में जाना। स्पष्ट है कि जो कुण्ड दु:खदायी होगा वहीं नरक है, पर स्वर्ग-नरक सब कुछ संसार ही है, अत: पुरुषार्थ इससे निकल कर अमृत पाने में ही है। अधिक-अल्प कर्दम कुण्ड़ों में जो थोड़े अच्छे कुण्ड हैं, वे ही कुछ सुखी और अतिभ्रष्ट कुण्डों में कराहने वाले दु:खी बोले जाते हैं। इस प्रकार संसार की अनिवार्य दृश्य विषमता के भी हेतुरूप में 'धर्म' सिद्ध होता है। 'इस स्थल से उस स्थल आना जाना' यहीं क्रिया जीव किया करता है और इन सभी क्रियाओं में 'धर्म' विद्यमान रहता है। ब्रह्मलोक तक विस्तृत कीचड़ के संसार में 'धर्म' का आंशि ही आचरण चलते रहता है और अमृत लोक (मोक्ष) जाने में अविकल रूप का और इन्हीं दोनों लोकों का नाम ब्रह्माण्ड है, अब सोचिये, सारे ब्रह्माण्ड को 'धर्म' ने ही धारण कर रखा है या किसी दूसरे ने? इसीलिए सिद्धान्तित किया गया है—***'धर्मो धारयते प्रजा: 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित:'*** आदि। प्यासा यदि जल का आदर नहीं करेगा तो जल को क्या पड़ा है कि वह प्यासे के पीछे-पीछे घूमे। हम कोई धर्म करके धर्म पर उपकार नहीं लादते; किन्तु अपना ही कल्याण करते हैं। घट के हेतु मिट्टी से घड़ा बनाकर आप अपनी आवश्यकता पूर्ण करते हैं कि मिट्टी की?

धर्म सच्चे सुख का हेतु है, यदि गर्ज है तो उसके पीछे-पीछे घूमो, यदि मनुष्य बनना चाहते हो तो,भिखारी को एक पैसा फेंक देने वाले के मन में यह बेकार अहङ्कार नहीं आना चाहिए कि हमने कुछ धर्मादा करके धर्म की रक्षा की है। अपने हितकर व्यापार में दो रुपये कमाने के लिये एक रुपया डाला जाता है, यह व्यापार है क्रिया नहीं है। धर्म की दूसरी धार अधर्म है, इतनी तीक्ष्ण है कि उस पर पड़ते ही धड़ शीश से सदा के लिये अलग हो जायेगा। धर्म एव हतो हन्ति। आँखे होते हुए भी यह क्यों नहीं दीख रहा है कि तुम्हारे पास-पड़ोस में कुकुर, कीट-पतंग आदि ८४ लाख योनियाँ हैं जिन्हें भारतीय इतिहास ने गिनकर रख दिया है, जबकि आज का विकासवादी अभी तक नहीं बता सका है कि ८४ लाख संख्या अशुद्ध है। जिन सबों की कराहें, करुण चीत्कार, भीषण सन्ताप देखे नहीं जाते। यदि कोई हेतु नहीं होता, तो आप मनुष्य हो और क्यों कुत्ता-कुत्ता हो? हाँ धर्म की यह प्रकृति ही है कि हृदय में आप उसकी आवश्यकता अनुभव किये नहीं कि वह आपकी रक्षा में कुछ रख नहीं छोड़ेगा। असमय का साथी धर्म, निर्बल का बल-मित्र धर्म, सबल का बल धर्म और सब कुछ संसार का धर्म ही है।

भयङ्कर काली कोठरी में एक कैदी का हाथ, पाँव लोहे से बाँध दिया गया है, वह हिल-डुल नहीं सकता, कारागार के ताले बन्द हैं। कोई मनुष्य जायेगा तो १२ घण्टे के पश्चात्। इतने में एक साँप आकर कैदी को काटना चाहता है। अब कोई उपाय और पुरुषार्थ हेतुवादी बताए कि उस कैदी की रक्षा कैसे हो। पर धर्म के लिये यह स्थिति कठिन नहीं। ऐसे समय पर बहुत से मनुष्य जो बाल-बाल बच जाते हैं।

शेष पृ० २८ पर

वर्ण और आश्रम

'' चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टम् गुणकर्म विभागश:''
''वर्णानां ब्राह्मणो गुरु''
''प्रनन्तु मां ब्राह्मण पाद रेणव:''

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि ''कर्मो के अनुसार कुछ चालाक ब्राह्मणों ने जाति गढ़ ली है। सोचना है ब्राह्मणों के पद-पद पर धर्म के जटिल जञ्जीरों में जितना जकड़ा गया है, शूद्रों को उतनी ही छूट दे रखी है, तब भी अपने-अपने कर्मो के पालन 'फलं सामान' रखा गया है। स्वधर्म पालन भ्रष्ट ब्राह्मण भी अधोगति प्राप्त करता है और शूद्र भी स्वधर्म पालन से सद्गति और समाज में सम्मान। क्या यही बुद्धिमानी है कि चतुर ब्राह्मण वेदों का श्रवण-मनन निदिध्यासन सभी संस्कार आश्रमों के यथावत: पालन, अग्नि-गुरु-सेवा त्रिकाल सन्ध्यानुष्ठान, मृतक-पातक का विचार, बड़ी-बड़ी तपस्यायें और प्रायश्चित, विलासित्ता के साधन धन का कनक संग्रह न करना, वल्कल वसन पहनना, सन्तोष से ही रहना आदि उपद्रव अपने ऊपर ले और इन कष्टों से शूद्र को सर्वथा मुक्त, इसे केवल पुराणादि का श्रवण, द्विज की मजदूरी पर शुश्रूषा से ही मुक्ति दिला दे और घोषणा करा दे कि स्व-स्व वर्णानुकूल कर्त्तव्य से ही सबों को सद्गति समान ही मिलती है। जैसे, जो जहाँ है, उसे वहीं सूर्य का दर्शन समान रूप से मिलता है? परलोक की लालच धोखा नहीं है; प्रत्युत् प्रमाणों से शतश: सिद्ध वस्तु है।

व्युत्पति के अनुसार जाति का सम्बन्ध ही जन्म से है कर्म से नहीं। अमुक कर्म करने वाले को अमुक जाति है, यह नहीं; किन्तु अमुक जाति वाले को अमुक कर्म करना है।

मानवों में व्यवहार निर्माण हेतु सृष्टि बनाने वालों ने ही ब्राह्मण आदि जातियाँ अनादि काल से ही बनायी है। संसार में बुद्धि, बल, व्यवसाय, सहायता (सेवा) ये ही ऐसे चार तत्त्व हैं जिससे सृष्टि व्यवहार चल रहा है। इसीलिए ये चारों तत्त्व प्रत्येक जीव में न्यूनाधिक पाये जाते हैं।

आज भी बुद्धि बल का मूल्य सेवा आदि बलों की अपेक्षा बढ़ कर लगाया जाता है। एक श्रमिक १घन्टे का २ रु० लेगा तो एक बुद्धजीवी १ हजार भी ले सकता है। सिद्ध किया जा चुका है कि संसार का सृष्टि प्रवाह अनादि है, चेतन अचेतन-फिर तो मानव भी अनादि है। अत: चार व्यापी भौतिक गुणों में ईश्वर द्वारा उनका बाँट दिया जाना भी अनादि व्यवस्था है। जिस प्रकार घोड़ी में घोड़ा से उत्पन्न सन्तान ही घोड़ा कहलाता है, उसी प्रकार ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान ब्राह्मण कहलायेगी और तब शास्त्रों ने जो विधियाँ बतलायी हैं उनका अनुष्ठान रूप कर्म करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। यह हो सकता है कि ब्राह्मण अपने कर्तव्य से च्युत हो जाये, पर च्युत हो जाने पर भी वह ब्राह्मण ही कहलायेगा। हाँ पतित विशेषण भले ही लग जायेगा-'पतित ब्राह्मण'। घड़ा फूटने पर भी घड़ा ही कहलाता है, उसे इतना ही हो जाता है कि तव वह अछिद्र था, अब सछिद्र। पूर्व जन्मान्तरीय कर्मों की इस जन्म में हेतुता सिद्ध की गयी है। अत: जन्मान्तरीय कर्मों के अनुसार तत्तत् जातियों में जन्म और कर्म फल मिलते हैं। यह सिद्धान्त कट नहीं सकता।

सारा स्थूल संसार भी तो क्या है? ईश्वर की कल्पना ही जीव, पुनर्जन्म, ईश्वर आदि की वास्तविकता जो अदृश्य है, अपौरुषेय वेद ही जान सकता है, मनुष्य नहीं, यह सिद्ध है और वेदों ने यह कहीं नहीं कहा कि ब्राह्मण के कर्म करके कोई भी ब्राह्मण है, पर यही कहा कि 'अमुक कर्म अमुक के लिए ही है' दूसरे इसके पालन से पतित होंगे। तात्पर्य यह है कि जो मानव जाति से अचिन्त्य प्रश्न पहुँचते-पहुँचते

वेद पर आ जाते हैं; उनमें एकमात्र वेद ही प्रमाण होते हैं, तर्क आदि नहीं। सिद्धान्त पक्ष यही है और यही बात जन्म जाति पक्ष में भी है।

आश्रम

जाति के आश्रम भी वेदों की ही देन है। जिस प्रकार जाति उभय लोकगत समष्टिकर्मों के फल की सुविधापूर्ण व्यवस्था के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार चार आश्रम भी व्यक्ति के सारे जीवन को अनिवार्यत: चार भागों में बाँट कर उसे उच्छृङ्खल वन जाने से रोकने के लिए परम आवश्यक है। इन चार आश्रमों में प्रथम ब्रह्मचर्य, द्वितीय गार्हस्थ्य की आवश्यकता, मनुष्य की प्राकृत मांग होने के कारण, न तो छिपी है और न चाहते हुए भी, इससे कोई वच ही सकता है।

बुद्धि सम्पन्न प्राणी को विद्या चाहिए ही और वह इसी समय सम्पन्न की जा सकती है, जबकि इन्द्रियों की हलचल न हो इसीलिए प्रकृति ने स्वयं इस ब्रह्मचर्याश्रम को मानव-विकार रहित बना रखा है; अत: चाहते हुए भी कोई भी अब्रह्मचारी हो ही नहीं सकता, तब विद्या की सम्पन्नता में कोई सन्देह ही नहीं।

यही वह कच्ची अवस्था है जिसमें अहित, सत्संस्कार सदा के लिए साक्षी हो जाते हैं। विद्वान् वनने के पश्चात् मनुष्य संसार में पदार्पण करता था (गार्हस्थाश्रम) और सांसारिक संघर्षों से लड़ने और जीने के लिए आवश्यक आवश्यकताओं के पूत्यर्थ एक 'साथी' और अर्थ की आवश्यकता होती है। सारा धर्म-नियन्त्रित उपभोग इसी अवस्था में भोगा जाना है और परिणामस्वरूप संसार चलाने के लिए संसार को सन्तान देकर पितरों के ऋण से मुक्ति मिल जाती है। पूर्वजों ने तुम्हें पैदा किया है, इसीलिए की तुम भी पूर्वज बनो। वह फल कैसा जो 'बीज' नहीं दे? यहाँ तक आते-आते मनुष्य सांसारिक सभी सुखों-भोगों में अपनी आधी अवस्था व्यतीत कर डालता है; अब रहती है आधी, जिसमें दूसरे संसार को भी सुसंसार बनाने का मानवीय प्रयास करते हैं और वह निर्विघ्न शान्त धर्माचरण से ही हो सकता है, खेल नहीं है, अत: ऐसे जीवन का अभ्यास करना पड़ता है, जिसके लिए उपयुक्त होती है—प्रपंच परिवार से नितान्त दूर तपोवन कन्दरायें जहाँ मुनिवृत्ति सीखी जाती है और सारा संसार छोड़ दिया जाता है अपनी संतानों के उपभोग के लिये। यह वानप्रस्थ कहलाता है। यहाँ सिद्धि मिल जाने और शान्ति मार्ग स्थिर हो जाने पर संसार का त्याग कर दिया जाता है, जिसे 'संन्यास' कहते हैं, जहाँ सोना मिट्टी, शत्रुमित्र समान समझे जाते हैं। भारतीयों के जीने मरने का ढंग यह है—

'शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगान्ते च तनुत्यजाम्।।''

घोषणा के साथ कहा जा सकता है संसार में इससे सुन्दर, सुव्यवस्थित व्यवस्था हो ही नहीं सकती।

इन आश्रमों में धर्म और प्रकृति दोनों का समर्थन है। प्रथम और द्वितीय को अनिवार्य करके ईश्वर ने अन्य दोनों आश्रमों का पालन का दायित्व मनुष्यों पर छोड़ दिया है, परीक्षा के लिये और सामने अनिवार्य कर दिया है, मरण, जिसके बाद के नित्य संसार को नहीं पा सकोगे। मनुष्य में यदि संस्कार नहीं डाले जायें तो निरा पशु ही रह जायेगा। अत: इन नियमों को अनिवार्य न कर देने पर संसार का अधिकांश भाग स्वभावत: उच्छृङ्खल होगा और मरने तक वैसा ही रहेगा, फिर संसार नरक से कम कैसे रहेगा। स्वभावत: वृद्ध शक्ति चाहते हैं; क्योंकि उन्हें दो दिनों के बाद मरना है, यह ईश्वरीय संकेत जिन्हें न समझ में आये वे ही इन पूर्ण वैज्ञानिक आश्रमों को अवहेलना करेंगे। अत एव ''आश्रमादाश्रमं गच्छेत्'' कहकर वेद ने व्यक्ति के जीवन को तनिक भी इधर-उधर अवारा बनने से सर्वविध रोककर मानव का कल्याण

किया है; कोई बुद्धिमान् समझता क्यों नहीं?

आश्रमों की क्रमिना का सिद्धान्त साधारण है, अत: अपवादत: यदि किसी को पहले ही विराग हो जाय, तो वह अन्तिम आश्रमस्थ हो सकता है; क्योंकि वही आश्रम परमलक्ष्य है—'यदहो विरजेत्', तदह: प्रवजेत् श्रुति का यही भाव है। संन्यास का अर्थ होता है—त्याग, पर कर्मों का नही, कर्म-फलों का संन्यास का पूर्ण पालन, सींग पर सरसों रखने जैसा ही है, अत: ह्रासवाद के अनुसार वह केवल वेष में रह गया है। इसलिए स्मृतिकारों ने कलियुग में इस पर रोक जैसा लगा रखा है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि यह अर्धम है। रोकने का तात्पर्य है पालन न कर पाने के फलस्वरूप अधिक हानि होने से बचाना है।

सद्गृहस्थ बनकर थोड़ें में काम चलाना, अर्थात् न उठना, पतन से अच्छा ही है। जबकि शास्त्रोक्त सभी विधि की पूर्त्ति हो तभी ही संन्यास ग्रहण सार्थक अन्यथा विडम्बना ही है। क्या शास्त्रोक्त वर्ण आश्रम के पालन से ब्राह्मणों का निग्रहानुग्रह शाप आदि ब्राह्मणत्व, इसी प्रकार क्षत्रियों का दुर्धर्ष क्षत्रियत्व आदि प्राप्त हो सकेंगे का उत्तर है नहीं; क्योंकि ह्रासवाद ही प्रकृतिकृत है, पर आचरण इसलिए आवश्यक है कि अवश्य भुगताने वाले धर्म के सामने चोर नहीं बने।

*****

पृ० २५ का शेष

वह धर्म का ही प्रभाव है कि इतने में वहाँ धर्म प्रेरित एक नेवला आ जाता है, जो साँप को खण्ड-खण्ड कर डालता है। नेवला इसी समय क्यों आया? धर्म की व्यापकता का ही यह प्रभाव है कि संसार का समस्त जीव विना धर्म माने रह नहीं सकता।

विभाग तो दो ही हैं–१. धार्मिकों की और २. अधार्मिकों की। धार्मिक तो धर्म करते मानते ही हैं, पर अधार्मिक भी धर्म-अधर्म समझकर ही करते हैं। चोर चोरी करता है, पर यह अवश्य समझता रहता है कि चोरी खराब है, अधर्म है तो भी तो अन्त में आया यही न, चोर चोरी करता है पर चोरी रूप अधर्म से भिन्न धर्म की सत्ता तो वह मानता ही है, तभी तो चोरी को धर्म विपरीत अधर्म समझ रहा है। भले ही सुधरे लोग धर्म को कर्त्तव्य मानकर ही करते हों पर करते तो अवश्य हैं। सूर्योदय दिशा में भ्रान्त व्यक्ति यह नहीं समझता की सूर्य पश्चिम में उगा है, किन्तु यही निश्चय करता है कि मुझे पश्चिम ही पूर्व भासता है अर्थात् सूर्योदय पूर्व में ही होता है। नास्तिक भी किसी न किसी रूप में धर्म को स्वीकारता ही है अत: ***'धारणाद्धर्ममियाहु:'*** ही सिद्ध होता है।

धर्म एक अदृश्य वस्तु है, जिसके निर्णय में एक मात्र शास्त्र प्रमाण है और वे ही शास्त्र, जो अनादि और अपौरुषेय हों और ऐसा शासक संसार में केवल एक है–वेद। धर्म जैसी अदृश्य वस्तु को हम देख नहीं सकते और किसी ने भी नहीं देखा है, इसलिये सुन भी नहीं सकते पर यदि अनुमान से अदृश्य वस्तु सिद्ध है, तो उसका द्रष्टा अवश्य होगा यह भी अमिट है और वह वहीं हो सकता है जिसे किसी ने बनाया नहीं हो; क्योंकि सिद्ध हो चुका है कि धर्म मनुष्य दृश्य है ही नहीं। अतएव भारतीय विद्वान् 'वेद' को अपौरुषेय मानते हैं और उसी से धर्म का निर्णय करते हैं।

इसी आस्था के अनुसार हमारे धर्म वेत्ताओं ने धर्म समझते हुए यहीं लिखा है— ***'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्म:'*** शास्त्र का विधान हीं धर्म है निषेध ही अधर्म और धर्माचरण का फल बताया कि ***'यतोऽभ्युदाय नि:श्रेयस सिद्धि:'*** सधर्म।

*****

कर डालता है। नेवला इसी समय क्यों आया? धर्म की व्यापकता का ही यह प्रभाव है कि संसार का समस्त जीव विना धर्म माने रह नहीं कसता।

विभाग तो दो ही हैं–१. धार्मिकों की और २. अधार्मिकों की। धार्मिक तो धर्म करने मानते ही हैं, पर अधार्मिक भी धर्म अधर्म समझकर ही करते हैं। चोर चोरी करता है, पर यह अवश्य समझता रहता है कि चोरी खराब है, अधर्म है तो भी तो अन्त में आया यहीं न, चोर चोरी करता है पर चोरी रूप अधर्म से भिन्न धर्म की सत्ता तो वह मानता ही है तभी तो चोरी को धर्म विपरीत अधर्म समझ रहा है। भले ही सुधरे लोग धर्म को कर्त्तव्य मानकर ही करते हों पर करते तो अवश्य हैं। सूर्योदय दिशा में भ्रान्त व्यक्ति यह नहीं समझता की सूर्य पश्चित में उगा है, किन्तु यही निश्चय करता है कि मुझे पश्चिम ही पूर्व भासता है अर्थात् सूर्योदय पूर्व में ही होता है। नास्तिक भी किसी न किसी रूप में धर्म को स्वीकारता ही है अत: ***'धारणाद्धर्ममियाहुः'*** ही सिद्ध होता है।

धर्म एक अदृश्य वस्तु है, जिसके निर्णय में एक मात्र शास्त्र प्रमाण है और वे ही शास्त्र, जो अनादि और अपौरुषेय हो और ऐसा शासक संसार में केवल एक है–वेद। धर्म जैसी अदृश्य वस्तु को हम देख नहीं सकते और किसी ने भी नहीं देखा है, इसलिये सुन भी नहीं सकने पर यदि अनुमान से अदृश्य वस्तु सिद्ध है, तो उसका द्रष्टा अवश्य होगा यह भी अमिट है और वह वहीं हो सकता है जिसे किसी ने बनाया नहीं हो; क्योंकि सिद्ध हो चुका है कि धर्म मनुष्य दृश्य है ही नहीं। अतएव भरतीय विद्वान् 'वेद' को अपौरुषेय मानते हैं और उसी से धर्म का निर्णय करते हैं।

इसी आस्था के अनुसार हमारे धर्म वेत्ताओं ने धर्म समझते हुए यहीं लिखा है— ***'चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः'*** शास्त्र का विधान नहीं धर्म है निषेध ही अधर्म और धर्माचरण का फल बताया कि ***'यनोऽभ्युदाय निःश्रेयस सिद्धिः'*** सधर्म।